Acc No 8116
46

लौकिक और अलौकिक

8116

— रमेश मिश्र

Acc No 11 8116

••स्कैन्ड/ Scanned••

[illegible]

व्यक्ति और अभिव्यक्ति

(लयात्मक रचनाओं का संग्रह)

रमेश मिश्र
एम० ए०, पी-एच० डी०
रामलाल आनन्द कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-१६

Sh. Ghulam Mohamed & Sons
Booksellers & Publishers
"स्कैन्ड/ Scanned"

अनुभूति प्रकाशन, दिल्ली-६

प्रकाशक : अनुभूति प्रकाशन
मॉडल टाउन, दिल्ली-९

●

प्रथम संस्करण : अगस्त, १९६७

●

मूल्य : पाँच रुपया

●

मुद्रक : पुरी प्रिंटर्स, दिल्ली-५

अपनी ओर से

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति अपने सूक्ष्म और स्थूल रूप में एक विशेष अभिव्यक्ति ही है। परन्तु प्रस्तुत संग्रह में सूक्ष्म भाव-लोक सघन होकर, बुद्धि से समझौता करता हुआ-सा अभिव्यक्ति पा गया है। इसमें चट्टानों से टकरा कर बहने वाले नीर का स्वर है। इस स्वर को पढ़ने और सुनने वाले कुछ सहृदय तो मिल ही जायेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। अभिव्यक्ति, जो मेरे भावों की ईमानदार अर्थी की सशक्त वाहिका है, लोक में अनेक दृष्टियों से देखी जायेगी—सफल-असफल, दुरूह, मात्रा-दोष आदि रूपों में। फिर भी उसके पीछे मेरा मौन 'व्यक्ति' मुखर प्रतीत होगा। जहाँ कहीं मेरी अभिव्यक्ति मेरे मुखर व्यक्ति को अभिव्यक्त करने में शिथिल रही है, वहाँ भी मेरा व्यक्ति मुखर झुँझलाहट मिश्रित मन्द मुस्कराहट के साथ सुस्थिर बना रहा है।

इस संग्रह में 'व्यक्ति' और 'अभिव्यक्ति' नाम से पृथक्-पृथक् विभाग नहीं हैं। सभी रचनाओं का अपना एक 'व्यक्ति' है और उस व्यक्ति की अपनी अभिव्यक्ति।

कुछ दिनों पूर्व तक मैं अपने नाम के आगे 'अज्ञात' लिखा करता था। पर, इस संग्रह के प्रकाशन के साथ ही उस को आपके सुज्ञात हाथों में सौंप कर सन्तोष का अनुभव कर रहा हूँ।

अपनी भूलों के लिए आपके उदार मस्तिष्क से दण्ड-विधान की कामना लिए हूँ।

३१ जुलाई, '६७ —रमेश मिश्र

समर्पण है—

पूज्य पंडित गिरिजा शंकर जी (एटा-निवासी) को

जिन्होंने

आत्मनिष्ठ बनने का मन्त्र दिया

तथा

उस भायप-भक्ति केलिए

जिन्होंने मुझे

मौन रहकर

गरल बनते-बनते-सरल और तरल बना दिया।

आभारी हूँ—

उन मात्राओं का जिन्होंने दीर्घ से ह्रस्व, लघु से लघुतर बनने की ओर अग्रसर किया है। उस अनुस्वार (●) का जिसने मुख-विवर के घोष को, नासिका विवर से निस्रत कराके, दीर्घतर बनाया है।

अनुक्रम

	पृष्ठ
तीन कामनाएँ	१
प्रथम परिचय	२
किस विधि से तुम्हें बुलाऊँ	३
मेरी कविता के मानदण्ड	४
समष्टि	६
चेरी	७
पतझड़ छाया है मधुवन में	६
आँसू की बेटी	११
मुखर-मौन	१३
जिन्दगी की विरह घड़ियाँ कल्प सम है	१४
विरही की चाँदनी रात	१५
मधुवन में	१६
मनुहार	१७
जमुना तट पर मन-मोहन ने मुरली मधुर बजाई	१६
चित्र-व्यंग्य	२०
प्रेरणा	२२
मधु-प्रणय की कल्पना तुम प्राण !	२४
जीवन का विश्वास	२५
प्राणों की पुकार	२६
विश्व ज्योति तुम को प्रणाम	२८
वाणी का पिक	२६
एक धारणा	३०
कविता का आत्म कथन	३१
एक सन्ध्या—एक प्रभात	३३
लघु अस्तित्व—चिर-व्यक्तित्व	३५
एक निश्चय	३७
कृति का भोग और बालुका की नाव	३६
रेत के पहाड़	४१
जवानी झूमती है	४२
शब्द कठिन हैं बात सरल है	४४

नित नवीन मेरा स्वर	४५
सुमन	४७
डालडे का डिब्बा	४८
मृत्तिका-पिण्ड	५०
समय-शय्या पर	५२
नयी कविता का मूल्यांकन	५३
जीवन	५५
बस में	५७
मानस की नाप-जोख	५९
तरुणाई-एक व्यंग्य	६१
कला-कलाकार, अस्तित्व और व्यक्तित्व	६२
विद्यार्थी के नाम शिक्षक का खुला पत्र	६४
प्रकाश के कीड़े	६७
डायरी के पृष्ठ	६८-८५
मैं और तुम	
एक भाव-एक प्रतीक	
छल	
विद्युन्मेघ	
आकुल क्षण	
मधु-संचय	
अपहरण	
कै हंसा मोती चुगै	
समर्पण	
शव	
दिशा और भ्रम	
प्रतिकार	
मेरे जीवन का स्वरूप	
चेतावनी	
तरंगें और बुद्बुद	
मित्रता की सीमा	
मेरी बाटिका	
तिरोभाव	
घड़ी की टिकटिक	
मेरा आकार	

राष्ट्रपुरुष-
किनारा
सम्बोधन
जीवन-रस
स्वर्णिम भविष्य
मैं क्या हूँ
अभिव्यक्ति
प्रश्न
लेखनी से

तीन कामनाएँ

ओ भाव ! मुझ को ऐसा भाव दे कि बेभाव न बिकूँ ।
ओ चाव ! मुझे ऐसा चाव दे कि लक्ष्य पर पहुँचने से न रुकूँ ।।

मरुभूमि की रेतीली भूमि में, कारवाँ साँस रोके चला जाता है ।
दृष्टि अदृष्ट को देखती तो रही, जीवन किनारे पर चला जाता है ।।

ओ लगाव! मुझे ऐसा लगाव दे कि चाव बन सकूँ ।
ओ भाव ! मुझ को ऐसा भाव दे कि बेभाव न बिकूँ ।।

आँख ने एक आँख ऐसी देखी, कि आँख ही बता सकी ।
मन ने विश्वास किया, पर बुद्धि न थाह पा सकी ।।
ओ अनुभाव! मुझे ऐसा स्वभाव दे कि जग को बाँट सकूँ ।
ओ भाव ! मुझ को ऐसा भाव दे कि बेभाव न बिकूँ ।।

१४ अगस्त, '६२

प्रथम परिचय

मैंने तुम को देखा पहले, अब भी हो तुम पूर्ण अपरिचित।
मन फिर-फिर भी यह कहता है कभी रहे तुम मेरे परिचित।
किन शब्दों से करूँ संबोधित, परिचित-से या अनजाने-से।
जिससे मन न हो सके बाधित, तुम्हारे किसी बहाने से॥

इस संयोगी वेला क्षण में, कुछ न समझ पड़ता है मेरी।
मन फिर-फिर विदग्ध-सा होता, और बुद्धि हो रही घनेरी।

इस अपूर्व मिलन पर खुशी मनाऊँ, या अश्रुमय कर दूँ हृदय को ?
अपने को संकीर्ण बना लूँ, या बाँधूँ मैं पूर्व मलय को ?

सच, मैं बहुत भयभीत हो चला, संसारी इस विनिमय से।
सत्य कहो ओ पथिक ! पूछ रहा सादर, सविनय से॥

कब तक बने रहोगे साथी, क्या है अपवादों में रहने की क्षमता ?
मेरा लक्ष्य क्षितिज से आगे, है इतना धैर्य और संयम की स्थिरता ?

सच बोलो, क्यों मौन हो रहे, यह है प्रश्न जीने का।
नौका टूटे, सागर उमड़े, तभी मज़ा है बहने का॥
लो, मैं स्वयं तुम्हें बतलाता, मेरा साथी वह बन पाता है।
जिसके जीने का मूल्य न हो, औ' अभाव से जिसका नाता है॥

इतना कर सको तो आओ, छूकर मेरे प्राण तरल कर दो॥
जग की मुझे परवाह न थी, और न है, लेकर मेरे गान अमर कर दो॥

२५ अगस्त,' ६२

किस विधि से तुम्हें बुलाऊँ

स्मृतियों को क्यों झंकारते हो, मीत मेरे ?
हृदय में सो रहा है मधुर संगीत मेरे।
जब तुम सुन्दरि ! सन्ध्या बनकर आती हो,
तत्क्षण भावोर्मि में पड़ते हैं प्रीति के फेरे ॥

किस विधि से सुमनों को स्वीकार—
करोगे, यह सचमुच मुझ को ज्ञात नहीं।
जिस क्रम से तुम तक पहुँच सकूँगा—
वह वैज्ञानिक क्रम मेरे हाथ नहीं ॥

सच, जिस सुधि से तुम आते हो,
हृत्-तन्त्री का वह तार गया टूट।
जिस क्रम से रस-वर्षण होता रहता—
वह मार्ग लोक से गया छूट ॥

फूट फिर पल्लव उठें रूठे हृदय से—
भाव फिर भर दो ऐसा हृदय में मीत मेरे ॥

मौन गुंजन शब्दमय हो, धवलित हो जायँ गीत मेरे।
व्यथित-अवगुण्ठित हृदय में सो रहा संगीत मेरे ॥

२ अक्टूबर, '६२

मेरी कविता के मानदण्ड

मेरी कविता के मानदण्ड तुम जागो,
अभिशापों के प्राणदण्ड तुम जागो ।
ताण्डव के प्रेमी प्रलयंकर फिर जागो,
वैषम्य गरल पीने वाले अब जागो ॥

छा जाय धरा में क्रान्ति,
भावों में संक्रान्ति,
जगत् में बहे सौम्य की धारा ।
त्रस्त हों आश्वस्त,
उद्दण्ड हों न्यस्त,
पाये सहारा जो है हारा ॥
ध्वंस हो स्वार्थ,
सजग हो पार्थ,
गाण्डीव-टंकार से टूटे अहंकार की कारा ॥
भाषित हों समभाव,
धुल जायँ विषम भाव,
देश-काल की मर्यादा में सक्षम हों, यही हो नारा ।
यही है लक्ष्य हमारा, आर्यों का सन्देश न्यारा ।
जीवन में पाये सहारा, जो है हारा ॥
जागृत हो आत्म-शक्ति,
कर्तव्य के प्रति भक्ति,
दीन से अनुरक्ति,
झूठ से विरक्ति ।
सिद्ध हो विज्ञान की उक्ति,
संस्कृति की शाश्वत सूक्ति ।

धर्म-अर्थ-काम में सिद्धि,
फिर भी लक्ष्य हो मुक्ति ।।

अनावृत हो आत्मा का प्रकाश,
दिगंत में गूँजे मानवता का जयकार ।
शासन के अत्याचार से,
जीवन-बोझ से जनता न हो हताश ।
मानव-मानव सब सम हैं,
देश-प्रदेश की सीमाएँ कल्पित हैं ।
उत्तम है आत्मा का शासन,
हृदय का अनुशासन ।
जगती में पावनता छा जाए,
गौतम, ईसा, गाँधी का राज्य आ जाए ।
निमित्त मात्र, ओ भावों के प्रहरी !
जग के कर्मकाण्ड फिर जागो ।
मोह-निशा से जग कर, द्रोहकाण्ड तुम त्यागो,
रूढ़ि-विखण्डित जीवनैक्य तुम माँगो ।

जीवन को सम्प्रेरित करने, युग की कविता के मानदण्ड अब जागो ।
अभिशापों को उन्मूलित करने, मेरी कविता के मानदण्ड तुम जागो ।।

१३ मार्च,' ६३

समष्टि

वृक्ष एक के तले, हम सभी हैं पले,
योंही मिलते चलें प्रेम से सब गले।
असमय फिर काल-ग्रास को प्राप्त यह—
जीवन-धारा पुनः सरस हो बह चले॥

मधु-रस-सिंचित प्रेम-बेलि दिन-दिन बढ़े,
सद्भावों के पुष्प खिलें, काँटे कढ़ें।
मिटें द्वेष-वैषम्य परस्पर प्रेम से,
व्यक्ति-साधना फिर स्वतन्त्र पथ पर चले॥

स्वार्थों का संघर्ष मिटे संसार से,
आर्त्त जनों का जीवन भी सुखमय बने।
भेद-भाव सब त्यागें सह—अनुभूति से,
मन-रसाल हो मुदित, सदा फूले-फले॥

हम मनुष्य, औरों को भी मनुष्य जानें,
आत्मज्ञान-संग औरों को भी पहिचानें।
जीवन-मूल्यों में फिर से सारस्य हो,
देवों के नय का विधान जग में चले॥
राष्ट्र-प्रेम-युत मानवता की सिद्धि हो,
मनु-पुत्रों में सत्य-अहिंसा-वृत्ति हो।
भारत के इस चिर-पोषित सन्देश से,
मानवता पर आया दुःसंकट टले॥*

२१ मार्च, '६३

*'गीतों का मुहूर्त्त' संग्रह में प्रकाशित।

चेरी

यौवन आता है एक बार,
इससे कहती फिर एक बार,
जी भरकर कर ले आज प्यार।
मैं आज रात-भर तेरी हूँ,
कल और किसी की चेरी हूँ।
यदि तेरी हूँ मैं आज रात,
तू यह न समझ मैं तेरी हूँ।
कल और किसी पर मैं निसार,
इससे कहती फिर एक बार—
जी भरकर कर ले आज प्यार।।

वैभव मिलता है एक बार,
दीपक में कितना नेह शेष।
होने को है नवप्रभात,
जाना मुझे को दूर देश।।
कल यहाँ बजेगा साज नहीं,
अब होगी महफिल और कहीं।
यदि साथ छुट गया एक बार,
फिर से मिलता कोई नहीं।।
इससे कहती फिर एक बार—
जी भरकर कर ले आज प्यार।।

समष्टि

वृक्ष एक के तले, हम सभी हैं पले,
योंही मिलते चलें प्रेम से सब गले ।
असमय फिर काल-ग्रास को प्राप्त यह—
जीवन-धारा पुनः सरस हो बह चले ।।

मधु-रस-सिंचित प्रेम-बेलि दिन-दिन बढ़े,
सद्भावों के पुष्प खिलें, काँटे कढ़ें ।
मिटें द्वेष-वैषम्य परस्पर प्रेम से,
व्यक्ति-साधना फिर स्वतन्त्र पथ पर चले ।।

स्वार्थों का संघर्ष मिटे संसार से,
आर्त्त जनों का जीवन भी सुखमय बने ।
भेद-भाव सब त्यागें सह—अनुभूति से,
मन-रसाल हो मुदित, सदा फूले-फले ।।

हम मनुष्य, औरों को भी मनुष्य जानें,
आत्मज्ञान-संग औरों को भी पहिचानें ।
जीवन-मूल्यों में फिर से सारस्य हो,
देवों के नय का विधान जग में चले ।।
राष्ट्र-प्रेम-युत मानवता की सिद्धि हो,
मनु-पुत्रों में सत्य-अहिंसा-वृत्ति हो ।
भारत के इस चिर-पोषित सन्देश से,
मानवता पर आया दुःसंकट टले ।।*

२१ मार्च,'६३

*'गीतों का मुहूर्त्त' संग्रह में प्रकाशित ।

चेरी

यौवन आता है एक बार,
इससे कहती फिर एक बार,
जी भरकर कर ले आज प्यार।
मैं आज रात-भर तेरी हूँ,
कल और किसी की चेरी हूँ।
यदि तेरी हूँ मैं आज रात,
तू यह न समझ मैं तेरी हूँ।
कल और किसी पर मैं निसार,
इससे कहती फिर एक बार—
जी भरकर कर ले आज प्यार।।

वैभव मिलता है एक बार,
दीपक में कितना नेह शेष।
होने को है नवप्रभात,
जाना मुझे को दूर देश।।
कल यहाँ बजेगा साज नहीं,
अब होगी महफिल और कहीं।
यदि साथ छुट गया एक बार,
फिर से मिलता कोई नहीं।।
इससे कहती फिर एक बार—
जी भरकर कर ले आज प्यार।।

क्षणभर अपने में डूब अरे,
यौवन का मधु-रस पी, पगले !
यह जीवन क्षणिक रात ही है,
सुख भोग इन्द्रियों का तू रे ।।
मैं आज 'बनी' तेरी निधि हूँ,
कल प्रेमी और घनेरे होंगे।
इससे कहती फिर एक बार –
जी भरकर कर ले आज प्यार ।।
मैं आज रात-भर तेरी हूँ ।
कल और किसी की चेरी हूँ ।।

३१ दिसम्बर,' ६३

पतझड़ आया है मधुवन में

कलियाँ मुसकाईं खिले फूल ।
उगी घास छिप गई धूल ।
कण्टक इठलाते आँगन में ।
पतझड़ आया है सावन में ।।

सरिता बहती है कल-कल कर ।
पीते द्विजगन मधु भर-भर कर ।।
बिछी हुई रज फूलों की —
मुखरित करती अतृप्त-कथा ।
जीवन खोया है कानन में —
पतझड़ आया है सावन में ।।

बुझते दीपक ने कथा कही ।
मधु-सिंचित बाती साथ हुई ।।
मुख की शोभा है कान्ति बनी ।
पीड़ा देती है चुभी अनी ।।
करुणा आती है आनन में ।
पतझड़ छाया है सावन में ।।

ऊषा बोली वर दिनकर से —
प्रिय ! बने हुए तुम किस रज से ?
मुख यह क्यों तापित रहता ?
अन्तर क्या अभाव सहता ?
कुण्ठा क्यों छायी प्राणन में ?
पतझड़ क्यों आया सावन में ?

प्रेयसि! झंकृत क्यों किया तार ?
कोमल अंगों पर क्यों किया वार?
कहता हूँ रहस्य, जो तापित है—
मधु-प्रणय सदा ही शापित है।
नकली शोभा लखते जगत्-जीव।
खोयी मानव ने हृदय-सींव ।।
अन्तस का निरखन बन्द हुआ।
मानव इतना स्वच्छन्द हुआ ।।
लग गई पंक है दर्पण में—
फिसलन रहती है अन्तर में।
पतझड़ छाया है उपवन में ।।

२६ जनवरी,' ६४

Govt. Public Library For W...
No. 8116
Date 29/9/72
...nagar.

आँसू की बेटी

देख एक दिन मन्द हँसी को हमजोली।
आँसू की बेटी मुसकाकर यह बोली—
बहिन, तुम्हारा रूप सीप का मोती है।
तुम में ही मद-भरी जवानी सोती है॥

तू है एक निशानी अमर दुलार की।
इन्द्रधनुष के रंगों वाले प्यार की॥

तू अधरों पर खिले कि जीवन-कमल खिले।
तू अधरों से मिले कि एक वसंत मिले॥

सखि! तू नए प्रेम की मधुर बहार है।
प्रेमी-जीवन की सबसे बड़ी पुकार है॥

हृदय-नीड़ से प्रीति-पक्षिणी को।
आघातों पश्चातापों के कल्मष को धो॥

अज्ञात रूप में तू भुजमूलों को पसारती।
आँखों को कर बन्द हृदय से तू निहारती॥

शबनम के मोती-सा तेरा रूप अनन्त।
जिस पर भी तू प्रकट हुई ओही तेरा कन्त॥

रहस्य-भरी बात सुन, अरी अलबेली !
रचा खूब संयोग और कर रस-केली।
बाहु-जाल है मृगतृष्णा, तू कोमल बेली ॥
अश्रु हृदय की उन्मुक्त हँसी है,
मन्द हँसी फिर छलनाभरी पहेली।
हृदय रूप के छिन जाने पर ही—
बन पायेगी तू मेरी (मानस) सहेली ॥

१ फरवरी,' ६४

मुखर-मौन

निशा के प्रथम प्रहर के बीच, याद आये जब तुम अनजान।
रागिनी थी सजीव-सी मौन, सजाकर स्वप्निल मोहक गान ।।
उमगती धाराओं का रूप, सुलाता रहता कहता कौन ?
और मधु-सिंचित बाती अरे ! जलाती रहती दीपक मौन ।।

स्वप्न की अगली घड़ियों बीच, प्रणय का मिला अमर सन्देश।
विषमता करती शासन जहाँ, वही योगी का सच्चा देश ।।
साधना को कर देते भंग, आह से होकर गीले गान।
प्रणय के पथ का वह विस्तार, मानिनी का समझो बस मान ।।

मधुर जो अरे सुषुप्ति महान्, दिया करती रह-रह संदेश।
भूल जाते हम ही हैं आप, प्रिया की पलकों का वह देश ।।
पुण्य छवि का वह मादक धाम, बसा करता हम में ही नित्य।
उड़ाता मादक पवन पराग, समझता रहता उसे अनित्य ।।

जागरण में जब आँखें खुलीं, निहारा जगती का विस्तार।
न कोई साथ अरे असहाय, जीत क्या बन जायेगी हार ?
कुसुम का करता कीट विनाश, स्वयं क्या होता है वह म्लान ?
रुदन में हास्य, मेघ में तड़ित, छिपा करते पीड़ा में गान ।।

मधुर मादक मधु-मदिरा, मौन पान करना जीवन का रूप।
शिशिर का शीतल सलिल-समीर, मिटा देगा जब अपना रूप ।।
मेघ-से कुन्तल जब सानन्द, घेरे लेंगे तन को स्वच्छन्द।
स्वयं को लाकर जग के बीच, मौन हो जायेंगे कवि छन्द ।।

१० फरवरी, '६४

ज़िन्दगी की विरह-घड़ियाँ कल्प सम हैं

स्मृति की रेखायें धूमिल बनी कुछ
विसासी का रहा न भरोसा ही कुछ।
'चाह' मेरी अब तक 'बनी' कुमारी ही
मधु-मिलन में उन्हें तो गरज कम है।।

राग का बन्धन बना है ईंट की कारा,
वक्ष का चन्दन सहज ही तापदायी काष्ठ-ज्वाला।
संगम की मधुर हँसी तो सरलतर होती—
विरह की मन्दाकिनी में स्नान करना कठिनतम है।।

धरा ने गगन की कब चाह पूरी की?
विधाता ने पथिक की कब राह पूरी की?
प्रेम-पथ तो क्षितिज के है पार जाता,
प्रेमी-युगल ने हृदय की कब थाह पूरी ली?

निशा का अँधेरा तो बनता उजाला,
दिवस की चमक फिर क्यों दिखती अँधेरा?
जीवन का संबल जब निःशेष होता—
तब दीप भी देता है निराशा-अँधेरा।।

गीता औ' दुर्गा का कैसा उजाला
जब हृदय की गहराइयाँ अन्धतम हों।
ओ राही! गुनगुनाने के प्रहर सब अल्पसम हैं—
औ' ज़िन्दगी की विरह-घड़ियाँ कल्प सम है।।

१ मार्च, '६४

विरही की चाँदनी रात

भ्रमर ने देखा कली को वैसे ही,
पथ में आ गई सहसा, वह यूँही।
क्या दोष बन पड़ा फिर उस अली का,
जो हृदय खुला नहीं अब तक कली का?
मधु-भरे दर्शन तो रहने दो—
बाँध क्यों डाला है उफनती रवानी को?

कगारों के बीच में सरिता का जल है,
कछारों पर बिछी बालू उज्ज्वल है।
ज्योत्स्ना-अनुराग स्वप्नवत् है चंचल,
रजनी की आभा ही रत्नाकर का सम्बल है।
मन्द हँसी तो अधरों में ही रहने दो—
ढक क्यों लिया है वक्ष की उठती निशानी को?

सामने देखो उस मदहोश चकवे को,
चकवी के विरह में उड़ रहा है जो!
देखो, यह रात की अन्तिम घड़ी है,
हृत्-वीणा यूँही मूर्च्छित पड़ी है।
प्रेयसि! फूलों-सी रानी!!
आओ, सोचो औ' समझो।
पावन संगम की तो बातें जाने दो—
'हाय' खा जाती है चढ़ती जवानी को।

४ मार्च, '६४

मधुवन में

तरु की शाखा मधु-मुकुलों से पुलकित होती ।
अरुणिम-सोंधे पत्तों ने गन्ध पवन में धो दी ।।
मधु-मीत विजय के ध्वज फिर फहराए हैं ।
देखो, ये प्रेमी आम पुनः बौराए हैं ।।

शस्य-श्यामला वसुन्धरा ने धानी साड़ी बदली ।
कृषक बालिका ने गीत गुनगुनाने की सुधि ली ।।
ये नयन स्मृति में आँसू भर लाए हैं ।
देखो, ये प्रेमी आम पुनः बौराए हैं ।।

झुरमुट में पिक ने पिउ-पिउ का राग अलापा ।
बूँ-बूँ के स्वर में भ्रमरों ने मारा छापा ।।
पिण्डुक-कपोत (तोता-मैना) सब ही मिलन हेतु हुलसाए हैं ।
देखो, ये प्रेमी आम पुनः बौराए हैं ।।

ये घास शीत से छुटकारा पाकर अब उलहाई ।
तनिक डुली शाखा पर कलिका अलि के मन भाई ।।
विरही मौसम ने कलियों से फिर मनुहार कराई ।
मनसा-फूली उस मानिनि की तजी रही निठुराई ।।
पंक्ति-बद्ध हो ये शुक भी अज्ञात-मिलन को धाए हैं ।
देखो, ये प्रेमी आम पुनः बौराये हैं ।।

१० मार्च, '६४

मनुहार

अरे ! बहारों का मौसम है, अब तो बाहर आओ ।

अरुण कमल को रसिक मधुप ने मधुमय तान सुना दी ।
झुकी कोर से उस कामिनि ने रस-प्याली मुझे पिला दी ।।
'नाहीं' के मिस संकेतों में अपनी प्रीति जता दी ।
मन्द गमित नील नयनों ने मेरी दृष्टि चुरा ली ।।
रहने दो वे बीती बातें, फिर से मन बहलाओ ।
अरे ! बहारों का मौसम है, अब तो बाहर आओ ।।

बौरे अम्बा की टहनी पर कुहुक कोयलिया बोली ।
प्रीति-पक्षिणी के कलरव से मन की डाली डोली ।।
मन्द-सुगन्धि धीर पवना ने बन्धन-चोली खोली ।
पपिहा ने राग अलापा, भ्रमरों की चल दी टोली ।।
परियों की कथा सुनाकर लोरी दे तुम्हीं सुलाओ ।
अरे! बहारों का मौसम है, अब तो बाहर आओ ।।

चन्दा ने प्रेमिनि कुमुदिनि को स्निग्ध करों से दुलराया ।
लज्जित हो उसका मुख भी अरुणिम आभा से पुलकाया ।।
तट पर बिछी हुई सूनी बालू ने सुखमय सेज सजाई ।
प्रकृति स्वयं पुलकित होकर मिलन-मोद को धाई ।।
ऐसे में तुम ही फिर क्यों उच्छ्वसित मेघ मँडराओ ।
अरे ! बहारों का मौसम है, अब तो बाहर आओ ।।

मैं, प्रियतम बन कर, सुमुखि, तुम्हारे मुख को तनिक उठाऊँ।
अर्द्ध-निमीलित कंज नयनि को निरखि, जीवन-निधि पाऊँ॥
तुम भी अपनी लम्ब-प्रलम्ब स्निग्ध बाहों को आगे करना।
जीवन का सुख-स्वप्न सजाकर मेरा भाव-लोक लेना॥
(थोड़ी शरमाना, नट जाना, बल खाना, पुनः मान जाना।)
इस मधु-ऋतु में हृदय-पटल की अरुणिम आभा दिखलाओ।
अरे! बहारों का मौसम है, अब तो बाहर आओ॥

राजा-रानी समझ स्वयं को, नाचें-गायें गलबाही डालें।
स्वप्नलोक का राज्य समझकर, साध युगों की पा लें॥
धरती का रत्नाकर होगा बाहों की सीमा वाला।
मैं हाथों में चन्दा समझूँगा, नयनों में होगी हाला॥
मन-भावन सावन है साक़ी, आओ तन का ताप मिटाओ।
अरे! बहारों का मौसम है, अब तो बाहर आओ॥

१८ मार्च, '६४

जमुना-तट पर मनमोहन ने मुरली मधुर बजाई

निशि अँधियारी, सूनी डगरिया, पिउ मिलन को धाई।
लौकिक बन्धन, कड़क रहे घन, मन की बिजली चमकाई ॥
विषम पहर में, मस्त महरिया पिउ को चली रिझावन।
कुन्तल छूटे घुँघरु फूटे, नैना जिमि बरसें सावन ॥
रूढ़ि तोड़कर सजन-मिलन को वह अलबेली आई।
जमुना-तट पर मनमोहन ने मुरली मधुर बजाई ॥

चूड़ी टूटीं, तिलक छुट गया, लाज लोक की छूटी।
नैश-गगन में धूमकेतु-सी प्रेम-दिवानी बढ़ती ॥
उमंग बढ़ी थी जमुना सरि-सम, आशा ने प्रकाश दिखलाया।
दूर कहीं पर वंशी-ध्वनि में उसने पिउ को पाया ॥
साँसें उमड़ीं, हिचकी बढ़ि गईं, पाँव परें अलगाई।
जमुना-तट पर मनमोहन ने मुरली मधुर बजाई ॥

पीउ-पीउ बोलै, इत-उत डोलै, लता पकरि कै थमती वामा।
कैसे पाऊँ मनभावन को, यही मन्त्र वह रटती श्यामा ॥
बैठा हूँ मैं इसी कुञ्ज में ओ भावों की मतवाली।
आओ, अब रस-रास करें हम, देखो गहन निशा काली ॥
भुज-बन्धों में पड़ी गोपिका, मेघ-श्याम में बिजली भाई।
जमुना-तट पर मनमोहन ने मुरली मधुर बजाई ॥

प्रियतम, मैं आ गई, चलें हम सरिता के तट।
माधवी लता के उस उपवन में बैठेंगे सट ॥
भीषणता के घोर विश्व की जटिल शृंखला तोड़ें।
भाव-लोक में विचरण करके ग्रन्थि प्रेम की जोड़ें ॥
चलो, चलें आनन्द-लोक में, अब तो सुधि बिसराई।
जमुना-तट पर मनमोहन ने मुरली मधुर बजाई ॥

१९ मार्च, '६४

चित्र-व्यंग्य

कवि, तुम बनो यथार्थवादी ।
भावों की अब लड़ियाँ तोड़ो,
जीवन की फुलझड़ियाँ छोड़ो ।
प्रेम-पंथ की धारा मोड़ो,
जग-जीवन का सार निचोड़ो ।
उपदेश कर्म के बनो समर्थवादी ।
कवि, तुम बनो यथार्थवादी ।।

नेताओं के यश में गीत बनाओ,
स्वागत में पद्य, मृत्यु पर श्रद्धांजलियाँ गाओ ।
भेंट-हेतु अभिनन्दन - पत्र लिखो तुम,
चाय-पार्टी पर जी भरकर गौरव पाओ ।
अवसर पर कहो छन्द प्रमुख है,
किंवा, बनो मुक्त छन्दवादी ।
कवि, तुम बनो यथार्थवादी ।।

सम्मेलन में कवियों पर दृष्टि पसारो,
सभापति को करबद्ध नमस्कार मारो ।
बच्चन, नरेन्द्र, नीरज, चंचल,
काका, चाचा, कुल्हड़, अंचल,
सभी अमर कवियों की नसल पिछानो,
जी हाँ-हाँ जी कहकर सबकी बातें मानो ।
'हाला' से बढ़कर 'वाद' नहीं है,
कहीं कहो सत-काव्य प्रयोगवादी ।
कवि, तुम बनो यथार्थवादी ।।

महादेवी के गीतों में अमर वेदना,
पन्त के कोमल विचारों में संवेदना ।
सच कहता हूँ, कवे! नहीं 'निराला' जग में,
निर्भय होकर गीत गुनगुनाओ तारीफों के।
बन जाओ छायावादी, प्रगतिवादी,
व्यवहारवादी, खादीवादी, गांधीवादी,
श्रम-कौशल से बनो समन्वयवादी ।
कवि, तुम बनो यथार्थवादी ॥

२२ मार्च, '६४

प्रेरणा

निहार भर दो, सिहरन बन जाएगी,
दुलार भर दो, पुलकन हो जाएगी।
नील गगन फिर यों ही—
प्रश्नों को लौटा न सकेगा।
स्नेह से पुकार भर दो,
तरुणाई छा जाएगी॥

मेरे मन की मृदु कलिका,
मधु-रस के सञ्चार मात्र से,
पुलकित-विकसित हो सकती थी।
सहृदय जनों की कोमलता,
व्यवहार पक्ष में अपना कर—
कितने ही विपन्न लोगों का,
पथ प्रशस्त कर सकती थी॥

पर युग का इतिहास बताता,
जग के स्वार्थपूर्ण माध्यम से,
सीधे - सच्चे छले गए हैं।
इसीलिए तुम से विनती है,
'धिक्कार' भर दो,
कविता स्वयं सरसाएगी॥

तुम दूर रहे,
इस चिन्ता में मैं चूर नहीं।
कितने तुम मजबूर रहे
समझना यह मुझसे दूर नहीं॥
अज्ञात का लघु प्रश्न यही—

क्या तव प्रेमिक मानस—
मेरी स्मृति से भरपूर नहीं ?

'हाँ' में यदि उत्तर पाऊँ तो,
मुझ-सा कौन सुगम है !
'ना' में भी संकेत पा सकूँ,
तो जीवित रहने को
इतना क्या कम है !
ध्येय-पूर्ति के लिए
दर्शन के आकर्षण का,
खुमार भर दो, मस्ती छा जाएगी,
तुम्हारी याद अमर हो जाएगी ।।[1]

३० मार्च, '६४

[1] 'रेत की तरंगें' संग्रह में प्रकाशित ।

मधु-प्रणय की कल्पना तुम, प्राण !

प्राण ! तुम मेरी समर्पित भावना हो,
सिद्धि हो तुम ही, अतर्कित साधना हो ।
भावना के लोक में संचरण करतीं,
तुम निरुपित मधु-प्रणय की कल्पना हो ।।

नैश-नभ में तुम धवल विद्युत्-किरण-सी,
कभी आलोकित बनातीं पंथ मेरा ।
चमक छिप जातीं कभी, बेचैन करतीं,
प्राण ! तुम उर की अजानी वेदना हो ।।

कल्पना में भी तुम्हारा स्पर्श पाकर,
महक उठता, पुलक उठता तन अपार्थिव ।
भाव-विह्वल मन-विहग तब कूज उठता-
प्राण ! तुम सुरभित उषा-सी चेतना हो ।।

मानसर में, प्राण ! लघु चंचल लहर-सी,
जिन्दगी की राह में तुम मिल न पायीं ।
साधना में काल की सीमा नहीं कुछ,
प्राण ! तुम जन्मान्तरों की कामना हो ।।

मन-पटल पर मूर्ति अंकित है तुम्हारी,
स्वप्न में तुमसे मिलन सम्भव सदा है ।
प्राण ! स्मृति ही बनी उपहार मुझको,
तुम सजग मन की, अथक चिर-साधना हो ।।*

३० अप्रैल '६४

---

* 'गीतों का मुहूर्त्त' संग्रह में प्रकाशित ।

जीवन का विश्वास

युग का अभिशाप ! हलाहल पीने वाला मैं,
विष से डरने का मुझको कोई काम नहीं ।
अनवरत लड़ रहा जीवन के संघर्षों से,
मन में मेरे मोहान्धकार का नाम नहीं ॥

विश्वास पले जीवन-तरु को गिरते देखा,
ढोंगों का थाला भोगों से सिंचते देखा ।
पर मन मेरा अब तक सन्तुष्ट न हो पाया,
री नियति ! बता, कैसा तेरा उल्टा लेखा !

जिस हरी घास पर मैंने अपना पग रक्खा,
उसने भी तो तलवे को घायल बना दिया ।
सौन्दर्य-राशि को नयनों में भरना चाहा,
पर सुन्दरि ! तूने अंगारे-सा जला दिया ॥

मंज़िल पाने को सारी सीमाएँ तोड़ीं,
जीवन-पगडण्डी छोड़ राजपथ पर आया ।
छलना-सी मंज़िल मुझसे कोसों दूर रही,
मेरा अभीष्ट पथ मुझे नहीं मिलने पाया ॥

मेरा लघु मानस बना रूप का चित्रकार,
दुर्दैव सामने खड़ा मौत के मुँह जैसा ।
आ ही पहुँचा जब जीवन के चौराहे पर,
माना काँटे हैं, पर उनसे डरना कैसा ॥*

२९ अप्रैल, '६४

* 'गीतों का मुहूर्त्त' संग्रह में प्रकाशित ।

विश्व-ज्योति ! तुमको प्रणाम

मानवता के पाटल-प्रसून ! ओ विश्व-मैत्रि के मूल बन्ध !
कृतकृत्य हुआ जगती-थाला, उपवन में तुमने भर दी सुगन्ध ।।

आनन्द-भवन के सपने में दृढ़ निश्चय ही साकार हुआ था ।
मोती-लाल जवाहर तुमने, गौतम का अवतार लिया था ।।

जाति-वर्ग से तुम थे ऊपर, कार्य-वेश से सात्विक ब्राह्मण ।
विश्व-नीड़ के द्विज तुम ही थे, सम्पन्न हुआ विधि-नैष्ठिक तर्पण ।।

बच्चों के चाचा कहलाते, युवकों के प्रियवर अग्रदूत ।
वृद्धों की झोली के लाल तुम्हीं, थे वसुन्धरा के सच्चे सपूत ।।

हिन्द की जय के स्वर बने रहे, एशिया खण्ड के उज्ज्वल नगेश ।
विश्व-मनुज तुम अवतारी थे, या मानवत्व के पुण्य शेष ।।

पंचशील के ओ उन्नायक ! गांधी की लकुटी ललाम ।
धरती के सुख-स्वप्न तुम्हीं, थे बचन एक तुम पूर्णकाम ।।

युगवत् संवत् ये बीते हैं, जन-जन के हे पुण्यधाम !
तुम मरे नहीं बस मौन हुए, हे विश्व-ज्योति ! तुमको प्रणाम !

३० मई, '६५

वाणी का पिक

प्राणों की बग़िया में, वाणी का पिक
मदिर-मदिर मौन में सुहाय।
अंचल की फर-फर में, केशों की—
लटकन में दृष्टि उलझि-उलझि जाय॥
जीवन में सम्भव ना, असम्भव के—
सम्भव में, मन बहकि - बहकि जाय।
तन-नगरी की सीमा है, सीमा में—
मधु-रस छलकि-छलकि जाय॥

२८ फरवरी, '६५

एक धारणा

पगला है जीवन,
पगला अब मेरा मन।
सोच ले, विचार ले,
स्मृति को खो दे।
भावों में डूब ले,
सरिता को चूम ले।
ऐसे हैं रसिक जन,
ऐसे ही सुहृद मन,
वैसा ही मेरा मन।

अपनी अब बदली चाल,
पूछूँ क्या तेरा हाल।
अंचल समेट ले,
घूँघट को खींच ले।
मन की मरोर को,
मेरे सीनाजोर, ओ !
अंखियाँ ये बन्द कर,
भावों के लोक चल।
मैं हूँ अब तेरा जन,
हो जा तू मेरा मन।

२३ मार्च, '६६

कविता का आत्म-कथन

ठहर जाओ, सोच तो लूँ, हृदय की मधुरतम संवेदना क्या है ?
सृजन-रत प्रक्रिया के क्षण-विलय-युत गीत की वह वेदना क्या है ?

हाथ चुनने में लगे हैं बालुका की सीपियों को,
कल्पना-पग बढ़ रहे हैं नयन की उन घाटियों में ।
दृष्टि सीढ़ी चढ़ चुकी है शून्य के उस शिखर गढ़ पर;
स्वर बना अज्ञात-मधुमय वेदना की वीथियों में ।।

मान जाओ, विवश तो हूँ, काव्य की वह तीव्रतम उद्भावना क्या है?
सृजन-रत प्रक्रिया के क्षण-विलय-युत गीत की वह अर्चना क्या है ?
ठहर जाओ, सोच तो लूँ, हृदय की मधुरतम संवेदना क्या है ?

उमस-उद्वेग जब साकार बन कर क्षणारूढ़ होने,
बात मेरी काव्यमय धर रूप निःसंकोच कहने ।
आ गई हूँ मंच के इस फुल्ल पुलकित दाँव पर जब;
कैमरे की पुष्ट प्रतिकृति, शब्द में संचार करने ।।

कान देकर सुना करता हृदय मन्मथ की वह भावना क्या है ?
तदपि आँखें कोर से सब देख लेतीं, रूप की वह सर्जना क्या है ?
सृजन-रत प्रक्रिया के क्षण-विलय-युत गीत की वह अर्चना क्या है ?
ठहर जाओ, सोच तो लूँ, हृदय की मधुरतम संवेदना क्या है ?

देखती मैं नत ग्रीव होकर बन्द आँखों की मिचौनी,
अर्पि करके भाव-सागर में मधुर-छवि हृदय-लौनी ।
किन्तु जिस क्षण बुद्धि उसको सींचती है ऊष्म जल से,
रूपसी कविता सुमुखि की तत्काल बनती छवि घिनौनी ।।

विरम लो, ओ आलोचक महाशय!
सोचने के सोच का परित्याग करके,
सोच लो तव-सिद्धान्त की संभावना क्या है ?

सृजन-रत प्रक्रिया के क्षण- विलय-युत गीत की वह अर्चना क्या है?
ठहर जाओ, सोच तो लूँ, हृदय की मधुरतम संवेदना क्या है ?

२३ मार्च, '६६

एक संध्या : एक प्रभात

गीत की पंक्ति गुनगुनाऊँ तो मैं, तान तुम साध दो।
भाव में स्वर मिलाऊँ तो मैं, प्रेरणा तुम इस में भरो ।।

बात मेरी नहीं,
बात तेरी नहीं,
बात कुछ भी नहीं,
बात असमय ही चलती गई।

नील सन्ध्या हुई,
फिर पुलिन आ मिले,
निशि मोहन पगे,
तरणि हिम-ज्वार में खो गई।

वह तुम्हारी कथा,
कुछ मेरी व्यथा,
यह तुमको पता,
श्वास-प्रश्वास में गलगई।

रज्जु फिर यों हिली.
पाल फिर यों उड़े,
यामिनी के प्रहर—
रागिनी से बँधे,
चन्द्र-आलग्न हो रश्मि संवेत से सो गई।

भावना की तरी फिर सजाऊँ तो मैं, पतवार तुम बाँध दो।
गीत की पंक्ति गुनगुनाऊँ तो मैं, [तान तुम साध दो ।।

बालुका-कण पुलिन पर बिछे,
धार तट से बँधी बह चली।

आम्र तरु झुक झूमते ही रहे,
(बीज की याद में वे डूबे रहे,)
याद की पाग में भावना घुल चली।

अनुराग उपवन पगा,
कोकिल-स्वर गुँजित हुआ।
भ्रमरों ने गुनगुन किया,
मर्म-कलिका स्पन्दित हुआ।
पूर्व-एकान्त में,
कान्त मधु-गन्ध मुखरित हुआ।
रूप ! तेरे सरोवर में आवर्त्त उठता रहा,
दीप उस ग्राम में मौन जलता रहा।

अनकही दृष्टि-अंकुर लगाऊँ तो मैं, सिंचन तुम करो।
गीत की पंक्ति गुनगुनाऊँ तो मैं, तान तुम साध दो।।

९ अप्रैल, '६६

लघु अस्तित्व : चिर व्यक्तित्व !

ओ जग-जननी के लाल ! लाल तुम लालबहादुर।
वामन के बौने पग से, रण छोड़ भगा युद्धातुर ॥

जन-जीवन से उठे, बढ़े तुम, शान्ति-पताका कर में।
जन्मे दो अक्टूबर को, बापू के चिह्नों पर चलने ॥

पुष्ट स्कन्ध, स्वस्थ चित्त, नेहरु के विश्वास घने।
नौ जून वर्ष चौंसठ, तुम भारत के सम्राट् बने ॥

लालकिले से ललकारा, बल का जवाब बल होगा।
सीमा हाथ बढ़ाने पर, मस्तक धड़ से छिन्न होगा।

छिड़ गया युद्ध, नीति-शान्ति अयूबी तानाशाही।
माँ का ममत्व, (प्यार पत्नी का,) भगिन-स्नेह ने भेरि बजाई ॥

ओ भारत माँ के सपूत !
धैर्य तुम्हारा तत्क्षण आँसू में विगलित था।

ललिता के प्रिय धाम !
तुम्हारे निर्देशों पर भारत चलने को उत्सुक था।

मन-वच-कर्म शान्ति-प्रिय, ओ जननेता सम्मानी !
भारत का पुरुषत्व शोधने, तुमने युद्ध-नीति ठानी ॥

विजय तुम्हारी हुई, शान्ति के हाथ बढ़ाये।
मित्र-भाव से तुम समझौते को ताशकन्द आये ॥

चिर-शान्ति-मैत्रि का अक्षर हस्ताक्षर देकर।
ललिता-प्रिय बलिदान हुए, वीरों में अपना सिर देकर ॥

बलिदान हुए तुम, भारत का दृढ़ सिद्धान्त पोष कर ।
अमर हुए तुम, 'जय जवान, जय किसान' का नारा देकर ।।

अमित-शक्ति निष्ठा महान्, यद्यपि लघु अस्तित्व ।
विश्व-मंच पर मुखरित है लाल, तुम्हारा चिर-व्यक्तित्व ।।

२९ अप्रैल, '६६

एक निश्चय

जब-जब जी घबराता,
रूप तुम्हारा, छवि अपनी अंकित होती।

सिन्दुर की कल्पित रेखा,
विषधर-केशों में सिर धुन अपना रोती॥

बिखर गया भावी-रत्नाकर,
तन-द्युति के मरुथल में।
जीवन का सरस कुतूहल,
मधु-वसन्त-पतझड़ में॥

रोओ नहीं सिन्धु तट बैठे-
ओ मेरे मधुरिम मेघो।
कान्ति-समन्वित उठो-बढ़ो फिर—
तृषित धरा-नभ छा जाओ॥

विहगों को दो नीड़, शुकों को—
दाना कृषि का बिखराओ।
कोई नहीं मरे प्यासा अब,
मृतकों में जीवन भर दो॥

भाव यही है, उस छवि से-
वसुधा-कण पुलकित कर दूँ।
जीवन-रस-कण बिखरा कर,
मरु में नवजीवन भर दूँ॥

सिहर उठे वह मधु-रेखा,
भावी को अभिनव समझूँ ।
जीवन फिर जीवन होगा
कान्ति-भाव युत भव कर लूँ ।।
जब-जब मन आकुल होगा,
रूप तुम्हारा, छवि अपनी अंकित होगी ।
बनी तुम्हारी चिर स्मृति यह,
अब भविष्य में कल्पित होगी ।।

२९ अप्रैल,' ६६

कृति का भोग और बालुका की नाव

(१)

क्षणिक सुख-भोग में—
वासना-नखों से नोंचा गया निरुपाय नर।
भोग के गुणनफल में—
वियोगी-योग का सम्यक् भाग दे कर।

बाँट कर खाने में—
मानवीय सामाजिकता होती सुकर।

अर्पण, निवेदन भोग में—
भावना-भक्ति हृदय की उभर साकार होती है।

रूप-कर्म-भाग्य भोग में—
कर्म से भोग, भोग-कर्म से सृष्टि रोती है।

हम जीते हैं निगोड़े इस भोग में—
भोग से ही श्रेय-प्रेय-फल चिर मृत्यु होती है।

नव-रूप धर भावना-कृति के भोग से—
रस-सिद्धान्त की अमर अनुभूति होती है॥

(२)

सोचता हूँ विवश होकर सोचना अब बन्द कर दूँ।
मान-मर्यादा भरे मधुगीत के दो छन्द रच लूँ।।
विगत वैभव कनखियों की रज्जु से अब विमोचित,
रोम-छिद्रों की सतह में दब रही थी मूक भाषा।
वक्र भ्रकुटी भाल की ऋजु, रेखा विनिर्मित,
सौन्दर्य-जल में घोल, लिख दी रूपसी ने मौन परिभाषा।।
रश्मियों सी सुधि यहाँ तक आ सके तो भेज दो,

बालुका की नाव को संतरित तो कर लूँ।
सोचता हूँ सोचना अब बन्द कर दूँ।।

३० अप्रैल ६६

रेत के पहाड़

वायु के झोंके से बने ओ रेत के पहाड़ !
अणुओं का विकास रुका बड़प्पन की आड़ ।
आज तव पैरों पड़े कुछ बालुका के कण ।
वे नींव भरें जो स्वत्व की लघुता में अणु ।।

ऊष्मा-सूर्य के प्रकाश से चमक रहे जो ।
ऋत-सत्य की आग से दमक रहे जो ।।

बोलं -- पर्वतराज !
हमारे गौरव ! ओ' सिरताज !
तव-समृद्धि में हमको नाज़ ।
अणुराज कहाने में तुमको क्यों लाज ?

दम्भ का आकार फुलाए ।
खड़े रहो जब तक हवा न आए ।।
एक बड़ा झोंका आया, होगे अस्तित्व-विहीन ।
झोंका (मौका) तुम्हारे गौरवाकार को लेगा छीन ।।
वे जीवित अणु घूमेंगे फिर भी स्वाधीन ।।

४ मई '६६

जवानी झूमती है

कर श्रृंगार,
जवानी झूमती है;
कर श्रृंगार,
जवानी घूमती है।

बैल की पूँछ पकड़कर;
शीश पर बोझा धरकर;
सूर्य तप रहा है ऊपर;
श्याम चाम वाला हलधर;
पुरुष-सिंह है वह नर वर;
अन्न उगाता है श्रम कर;
स्वेद बहाता जीवन-भर;
दिगम्बर वह,सहता शीत प्रखर;
अन्नपूर्णा का सेवक, रहता अर्द्ध उदर ।

वह भारत का सन्त स्वयंभू—
विश्व-पुरुष अनुपम महीपवर ।
जवानी उसमें सोती है;
जवानी उसमें रोती है;
श्री उसकी ही छीन जवानी घूमती;
उसका ही सुख लूट जवानी घूमती ।
कर श्रृंगार,
जवानी झूमती है ।

नयन के दीप जलाए;
हृदय में धुआँ उठाए;
त्वचा-सट वस्त्र बनाए;
बॉव-कट केश सजाए;
वक्ष को व्यर्थ फुलाए;
नकल को असल बनाए।

जवानी घूमती है।
कर शृंगार,
जवानी घूमती है ॥

१३ मई, '६६

शब्द कठिन हैं, बात सरल है

मानस जब-जब उमड़ा करता,
तट की सीमाओं से बँधता।
सागर की तरल तरंगों को,
चंदा किरणों से खींचा करता।

तट जितना कठोर होता है—
मन उतना विभोर होता है।
मरुथल में प्यास सताती है,
जन-रव में क्रान्ति बुलाती है।

पुष्प की पंखुड़ियाँ बिखरतीं—
बुद्धि का लघु विस्तार करने।
वृन्त आलग्न कलिका झुलस जाती—
तर्क का जड़ व्यापार कथने।।

किन्तु कण-कण और तृण-तृण—
बोल उठते राग का फिर श्लेष पाकर।
मूर्तियाँ बनती हृदय की, भव्य छादन-
शोभते हैं, भाव का संश्लेष छूकर।

भाव में भी बुद्धि रहती है,
पर, सूत्र हैं, व्याख्या तरल है।
अनुभाव में भी व्याप्ति रहती—
शब्द कठिन हैं, बात सरल है।।

१२ दिसम्बर, '६६

नित नवीन मेरा स्वर

मैं नित नवीन हूँ, नित नवीन मेरा स्वर।
मैं जगती का मूलमन्त्र, चिरविकास शाश्वत वर।।

मैं सोता रहता अधिक देर तक,
मैं जगता रहता पुरा भोर तक।

मैं द्रष्टा कवि हूँ, वैदिक स्वर में;
मैं आदि-कवि करुणा मर्मान्तक।।

रामायण का राम मैं ही हूँ, हनुमान का वक्ष तना।
व्यास कवि का भारत हूँ मैं, गीता में स्थितिप्रज्ञ बना।।

कालिदास का सौष्ठव हूँ मैं, तुलसी की वाणी का वर।
राधा की बनठन विरहा में, सूरदास-स्वामी-वंशी स्वर।।

ज्ञान-विरह में अनहद स्वर हूँ, प्रेम-विरह में पद्मिनि रानी।
नागमती यह दुनिया धन्धा, ऊपर कुग्रटा नीचे पानी।।

भूषण का मैं भीषण स्वर हूँ, घनानन्द की प्रेरक जान।
केशव की चन्द्रिका अलंकृत, गागर से सागर का मान।।

भारतेन्दु की यमुना-छवि मैं, महावीर का वाक्य विचार।
मनुकी चिन्ता, मानव-श्रद्धा का प्रसाद मैं पल्लव-परिवर्तन नौका-
विहार।।

दो टूक कलेजे के करता प्रयाग में, सेतुबन्धु में उच्च घोष।
जूही की कलिका परिणय में, सूर्यकान्त दानी मुमोक्ष।।

भारती की गूँज हूँ मैं उर्मिला-साकेत गोपा सम्मानी ।
देवी महा महिमा विगलिता करुणाद्रि बदली का पानी ।।

कुरुक्षेत्र द्विष करता निष्प्रभ दिनकर का मैं उच्चश्शृंग ।
शेखर हूँ अज्ञेय कृती का, स्वरमय कविता का मान भंग ।।

मैं नित उदार हूँ रे ! नित उदार मेरा वक्षस्थल ।
जीवन-क्रम में बहता रहता, मुक्ति-हेतु मैं जगती का थल ।।

१४ दिसम्बर, '६६

सुमन

एक ओर आँसू हैं,
एक ओर फूल ।
एक ओर खिलता मन,
एक ओर शूल ।

भूल एक कर बैठा,
सोचता मैं बेसुध मन !
तन-मन को तन्मय कर,
डाली पर विकच सुमन ।।

२५ मई, '६७

डालडे का डिब्बा

मेरा जीवन ?
डालडे का डिब्बा, जिसमें शुद्ध देसी घी भरा है।

देसी घी खाने वाले—
इसे देखकर दूर से भागते हैं।
डालडे के शौकीन, अन्तर का भाव जान,
आश्चर्य से निहारते हैं।

इस 'टीन' में रखे होने से—
स्वदेशीपन से च्युत हुआ,
अब डालडे के दिमाग़ इसे कम मूल्य पर खरीदना चाहते हैं।

ठीक है,
मेरा भी निश्चय है, देसी घी होने का प्रसंग है।
दिनारे होने का मुझे भय नहीं,
काल की दीर्घता से तापित घी में—
कीड़े पड़ सकते नहीं।

छाछ के आवरण को पुनः भावों की ऊष्मा से—
तापित किया जा सकता है, जलाकर शुद्ध किया जा सकता है।
तो फिर
इसके विनिमय, वितरण का विधान—
कण-कण उदारता से बाँट देने में ही है।
लेकिन

इस घी को सस्ते बाज़ारू दामों में बिकने नहीं दूँगा।
आएँ कितनी ही विषमताएँ—
पर, देसी घी जैसी ही मैं बात करूँगा।
पथ में आयी मिलावट की मैं घात करूँगा।
सहन कुछ भी करना पड़े—
पर अन्तर से देसी घी ही बना रहूँगा,
चाहे—
ऊपर लम्बा खजूर ही क्यों न छपा हो।*

८ फरवरी, '६३

* 'गीतों का मुहूर्त्त' संग्रह में प्रकाशित

मृत्तिका-पिण्ड

सूखे ताल की वे रेखायें—
जो ज्यामिति के किसी नियम से खिंची नहीं होतीं,
मिट्टी को सुडौल और अनगढ़—
मृत्तिका-पिण्डों में प्रस्तुत कर देती हैं।
मेरे जीवन को भी,
ऐसी ही कुछ रेखाओं ने—
दिन-रात की सीमा में विभाजित कर रखा है;
परन्तु रूप-हीन, आकार-विहीन।

सरोवर की वे रेखायें, दूर से—
तमः खचित प्रतीत होती हैं;
उनके द्वारा निर्मित आकार—
भूरे, खुरदरे और अनुपात-हीन, फिर भी नियमित।
जीवन को बाँधने वाली अहोरात्रि की ये रेखायें,
चकाचौंध निर्मित हैं।
ये रुप्य (जीवन)को रुपायित करने में—
समर्थ नहीं हो पा रहीं।

तो फिर जीवन भी, तालाब के समान
वेडौल मृत्तिका-पिण्डों जैसा ही है।
मैं क्या चाहता हूँ ?
यही कि फिर से पावस आ जाये;

सूखे, धूल उड़ते सरोवर को—
फिर से सराबोर कर दे।
जिससे वे दरारें मिट जायें,

सरोवर सम हो जाये और—
विधाता, गीली मिट्टी से
पुनः मृत्तिका-पिण्डों की रचना करे।†

२५ जनवरी, '६४

† 'रेत की तरंगें' संग्रह में प्रकाशित

समय-शैया पर

समय की शैया पर लेटा हुआ मैं
कोयल की कुहुक सुन रहा था।
साथ ही विचार के चरखे पर,
विगत जीवन की पौनी बनाकर,
वर्तमान की धुन में,
भविष्यत् की बूँ-बूँ का शब्द अन्वित करते हुए.
सूत का एक लम्बा धागा कात रहा था।
युग-जीवन को ढकने के लिए नहीं,
वरन् हृदय-गुरियों को मालावत् गूँथने के लिए।

मैं सँभल भी न पाया था।
झोंका आया ऋतुराज का,
धागा, बीच से नहीं, किनारे से,
हाँ, बिलकुल किनारे से टूट गया।
मैं जोड़ता रहा, दोनों किनारों को बाँधता रहा,
फिर भी तारतम्य न हो पाया।
अब भी चरखा चला रहा हूँ,
इस धुन में कि शायद स्वतः ही जुड़ जाए;
भयंकर बादलों की गड़गड़ाहट से
अनजान पथिक घर को ही मुड़ जाए।*

२६ जनवरी, '६४

*'गीतों का मुहूर्त्त' संग्रह में प्रकाशित

नयी कविता का मूल्यांकन

दायें रेत का पहाड़ था,
बायें वृषभ गति से चलने वाली उथली सरिता।
मैं, शराबी की चाल से—
पगडण्डी पर चल रहा था।
हाथ में पेंसिल थी, कागज़ था;
दिमाग़ में मोटी ऊन से बुने स्वेटर-जैसे विचार।

छोर...
उसका पता नहीं।
फिर, किधर से शुरु करूँ ज़िन्दगी को;
यह समस्या थी, कुछ लिखना चाहता था।

किसी महाकाव्य का ही श्रीगणेश कर दूँ?
या फिर बेकाज बनी, बेलाज 'बनी' नयी कविता—
का ही एक मुक्त छन्द रच डालूँ?
जीवन ही तो लिखना है,
माध्यम कुछ भी हो।

इसी उधेड़बुन में कमरे को लक्ष्य बनाए,
मैं तेज़ी से चला जा रहा था।
अचानक चाल बदली, होश आया,
समझा कि मैं कमरे में ही हूँ।

क्योंकि—
श्रीमतीजी बोल रही थीं...
"वह जो 'बनारसी साड़ी की दुकान' पर—

पीले गोटे वाली नीली साड़ी देखी थी न,
मुझे उसका कलर-शेड पसन्द आया।
और 'जैन आभूषण भण्डार' के यहाँ देखी गई—
जंजीर की डिज़ाइन भी बुरी नहीं थी।"
मैंने अपना मुँह ऊपर उठाया,
और माथे की सलवटों के साथ फैलाये होंठ।
कहा, 'धत्तेरे की...
यही यौवन का महाकाव्य है।
और आलोचना की तेज़ धार पर—
परखी जाने वाली मासूम नयी कविता !*

२६ जनवरी, '६४

* 'मीनारें और धुआँ' संग्रह में प्रकाशित

जावन

कुर्सी है, मेज़ है, बिजली की लाइट है।
हैंगर आलग्न कमीज़ पूरी व्हाइट है।
कोट है, पैण्ट है, चाय का पूरा सेट है।
कुछ काले, कुछ भूरे, सूखे बालों पर हैट है।

दूसरी ओर सामने, पल्लू से लपेटे मुख के समान,
टिक-टिक करने वाली दीवार-घड़ी का गोल चेहरा है।
चारपाई बिछी है उस कमरे में।
मैं उस पर बैठता हूँ, लेटता हूँ।
फर्श पर कभी-कभी टहलता हूँ।

उस कभी-कभी में कभी-कभी लगता है।
मैं कुछ भूल गया हूँ।
अथवा
कुछ है मेरे लिए—
जो मुझे अब तक मिल नहीं पाया है।
जीवन है, मधु है, साथ ही मधु-जीवन है।
पीने वाला है और पेय वस्तु भी है।
इतना ही नहीं, पीने की प्रक्रिया भी है।
प्यास भी है, कुछ अदना-सा प्यार भी है।
पीने वाला, अन्धकार से भीत दीप के समान,
पीने को उत्सुक है, फिर भी तृप्ति नहीं मिल पा रही।

तो फिर... शायद,
उस मधु घोल में कटु मिश्रित हो गया हो ?
तभी तो पीने के लिए जैसे ही मुँह बढ़ाता है पीनेवाला,
उसकी तेज़ गन्ध, नासिका-मार्ग से नहीं,

प्रत्युत दृष्टि-मार्ग से आहत कर देती है।
मस्तक को उभरती नसों में उत्तेजना भर देती है।
यह क्या है—
जीवन ?*

२६ जनवरी, '६४

*'मीनारें और धुआँ' संग्रह में प्रकाशित

बस में

दिल्ली में यात्रा कर रहा था बस से,
आकाशवाणी से—
स्टेशन को।
'केवल महिलाओं के लिए' सीट पर—
बैठ गया एक ग्रामीण।
अगले स्टॉप पर आयी एक नर्गिस-नयनी महिला,
रेल के सिगनल की भाँति,
तर्जनी को उठाते हुए बोली वह—
देखते नहीं—'महिलाओं के लिए'!
बेचारा!
कुछ न समझते हुए चुप रहा।
'हुँ', वह फिर बोली—'लेडीज़ है।'
उसने नज़र नीची कर ली।
सुनते नहीं—'जनानी सीट है।'
वह,
प्रश्नभरी दृष्टि से देखते हुए उठा,
बोला कुछ मुखर मन से—'हाँ'
महिलाओं ने, महिलाओं को,
महिलाओं के द्वारा, महिलाओं के लिए,
महिलाओं से, महिलाओं की,
महिलाओं पर, हे महिला!
अरी महिलाओ!!
मैं तुम्हारे सभी रूप जानता हूँ।
फिर 'महिलाओं के लिए' क्यों नहीं जानूँगा!

उस समय सभी चेहरे उसके एक चेहरे पर केन्द्रित थे।
और मैं ज़ोर से हँस रहा था—
हा ! हा ! हा हा हा !!!

२६ जनवरी, '६४

मानस की नाप-जोख

चींटी,
मानस-लोक की चकबन्दी करने को प्रवृत्त हुई।
उसने —पहले विस्तार को परिव्याप्त करना चाहा ;
और फिर —
सब कुछ समेट लेने के लिए,
सुरसा मायाविनी की भाँति, वदन-विस्तार करने लगी।
मानस-पवन-पुत्र स्वस्थ हुआ,
विस्तार का परिचय दिया।

चींटी-सुरसा,
विस्तार-गति को देखकर हर्षित होने लगी।
तभी मानस-लोक के प्रतिनिधि ने,
बिन्दुमय होकर उसके मुख में प्रवेश कर लिया।
चींटी अपने विजय-गर्व पर फूली न समाई।

समय बीता, खुमार उतरा,
सोचने लगी—
यह तो विस्तार का ही सर्वेक्षण था।
गहराई की माप अभी भी शेष है।
इससे पूर्व विजय कैसी ?

चींटी—
सरसिज पटलों की भाँति,
मनसिज पर्तों का भेदन करने लगी।
हुआ यह कि—
एक पंखुड़ी की परिसमाप्ति,
दूसरी पंखुड़ी की कोमलता को स्वतः प्रस्तुत करने लगी।
दिन बीतने लगे, वर्ष बीत गए ;
पर, पंखुड़ियों का अन्त न हुआ।
वह एक छोर से निकल कर—
दूसरे छोर पर पहुँच कर भी—
सोचती रही—
अब तक की प्रक्रिया प्रस्तावना मात्र थी।
सम्पूर्ण यात्रा तो अभी सामने ही है।
उसके इस निश्चय से—
मानस-शतदल झूमने लगा,
भाव-विभोर हो उठा।*

१५ जून,' ६४

* 'मीनारें और धुआँ' संग्रह में प्रकाशित

तरुणाई: एक व्यंग्य

स्मृतियाँ बिखर गई है;
जैसे—वाशेबिल इंक से लिखे गए पत्र पर—
वर्षा की प्रथम बूँद पड़ गई हो ।
या फिर पतझड़ की वायु के झोंके से—
नीम की पीली-पीली पत्तियाँ झड़ गई हों ।
जीवन में,
शेष रह गई है तरुणाई ।
जो, नाम-रूप से 'जरा' होने पर भी,
लोकसभा के चौराहे पर—
खड़े होकर,
मिनिस्टर की कार को—
दिशा-निर्देश कर रही है ।

११ मई, '६६

कला-कलाकार, अस्तित्व और व्यक्तित्व

कला ! ऐसा लगता है कि—
कला का केन्द्रीकरण हो गया है।
कला, सिमट आयी है—कला-वीथियों में,
तीनमूर्ति-संग्रहालय में या रवीन्द्र-भवन में।
अशोका के कालीनों पर, या फिर चाटघरों में।

कलाकार ! केन्द्रित हो गए हैं—
नगरों में, डगरों में,
या फिर केवल केन्द्र दिल्ली में।
उसमें भी—रेस्ट्राँ की कुर्सियों पर,
कविता के मंच पर, पार्कों के लंच पर,
शोक-प्रस्तावक गोष्ठियों में।
चन्दा-संग्राहक समितियों में।

कलाकार का अस्तित्व !
मुखर हो गया है, भास्वर हो उठा है—
दूरभाष के मुख पर,
एकादमी के पुरस्कारों में,
पत्रिकाओं की सम्पादकीय पोशाक में,
या फिर सभापति की व्यास गद्दी पर।

कलाकार का व्यक्तित्व !
उतना ही प्रभावशाली, आकर्षक और मोहक है—
जैसे—
महीन तार के जालीदार कटघरों में बन्द,
पर स्वतन्त्र,
देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करने वाले,
भाँति-भाँति को वैराइटीज़ में सजे,
दर्शकों की दृष्टि को देते हुए मज़े,
कार ड्राइव करते हुए,
चिड़ियाघर के काले बन्दर।
पर,
सबके कटघरों पर लगा है—
अनुभूति की सच्चाई का बिल्ला।
और—
नाम, नाम, इनाम
विगत वर्षों का काम।

१२ मई, '६६

विद्यार्थी के नाम शिक्षक का खुला पत्र

'स्टूडेण्ट यूनियन' के नारे लगाते
मन बहलाते, 'क्रान्ति' को चौराहों पर नचाते—
आ रहे हो तुम बीसवीं सदी के राजमार्ग पर।

सजग चेतना, उद्दीप्त शिरायें—
दौड़ रहा है जिनमें संवेदन का उष्ण रक्त।
अत्याचार-दमन हित पीस रहे तुम अपने तीक्ष्ण दन्त।
मुख पर उभरी शुष्क नसें—
कह रहीं तुम्हारा वीरोत्साह।

मुट्ठी में क्या बन्द ? क्रान्ति !
पर, उसको क्यों जगा रहे हो ?
बोलो, युग-प्रहरी छात्रवृन्द।
तुम नवयुग की साँसें हो।
परम्परा विरहित 'अर्थी' पर वाहित—
इस युग की 'विद्या' है।
तुममें संस्कृति के रक्त-बिन्दु जीवित हैं,
जो रूप बदलते रहे युगों में।

पर, शिक्षक कौन बना है ? विद्यार्थी ही।
नचिकेता जो जिज्ञासा-वश जूझ गया यम से भी;
उपमन्यु धार में पड़ा रहा निष्ठा हित;
एकलव्य को एक लक्ष्य ही था सर्वोपरि;
अर्जुन का तो ध्येय दृष्टि पर ही केन्द्रित था।

'विश्वास' रहा जिनका मित्र सदा ही—
ओ राम ! तुम्हारा जीवन ही विद्यार्थी बन—
युगों-युगों से शिक्षक बना रहा है—
संयम, त्याग, लोक-रक्षण हित ।
नीति हेतु कृष्ण खड़े हैं संदीपनि आश्रम में—
और फिर क्रान्ति का शंख बजाया ।
प्रेरणा उनकी बहती रही शिराओं में मानव के ।

शेखर, सुभाष, भगतसिंह भी तो युग के विद्यार्थी;
लिंकन, विद्यासागर, गांधी परिस्थिति निरपेक्ष खड़े हैं—
अब भी युग के सम्मुख ।
एक प्रेरणा-निष्ठा संयम की ही प्रधानता इस भरत-भूमि में—
एक चेतना, क्रान्ति एक का नारा रहा सदा विद्यार्थी का—
'हम अन्याय नहीं सहेंगे !'

रक्त वही है, तन-मन के माध्यम वे ही हैं ।
तदपि चेतना दीवारों में केन्द्रित है ।
व्यक्ति-स्वार्थ नेता बनने की अभिलाषा,
बना हुआ है बाहर बहार का कोलाहल;
नहीं केन्द्र है व्याकुल हुआ तुम्हारा ।

व्यक्ति-व्यक्ति का निर्माण चाहिए ।
अथ-इति का संस्कार चाहिए ।
भस्मसात् करने स्वार्थों को चिता चाहिए ।
युग-निर्माण हेतु करनी-कथनी की एकता चाहिए ।
नारे बड़े नहीं, नर का विश्वास बड़ा चाहिए ।
पद-नाम बड़े नहीं, चरित्र परिपक्व चाहिए ।
अध्ययन-मनन संयम बलिदान महान् चाहिए—
युग की नवागता क्रान्ति को ।

संगठन तुम्हारा नहीं केन्द्र विद्युत का—
तिनके बुलबुलों का अकस्मात् संयोगमात्र है ।

हा-हा-हू-हू, चीं-चपाड़, गलाफाड़ आवाज़ तुम्हारी—
नेता की फैशन मात्र बन गई ।
विराट् क्रान्ति के लिए समर्थ कन्धे आवश्यक हैं—
उनसे पहले दिल-दिमाग जो नेतृत्व कर सकें ।
थोड़ी-सी गफलत सामने खड़े शत्रु को शह देगी;
विपक्षी हँस देगा, राष्ट्र का अपमान करेगा ।
'क्रान्ति' से पहले तन की चादर को फौलादी बनने दो—
जो गर्म देर में होती औ' शीतल भी विलम्ब से ।
सारांश यही है–
तुम्हारा भविष्य तुम्हारे सम्मुख है;
तुम परिवार, राष्ट्र मानवता के एकमात्र दीपक हो ।

१५ अगस्त, '६६

प्रकाश के कीड़े

कल के पश्चात् आज,
जब मुझे यह निश्चय हुआ कि—
'प्रकाश' में भी कीड़े पड़ते हैं,
आकर्षित होकर पड़े रहते हैं।
सम्भव है—प्रकाश का रक्त भी अशुद्ध होता हो,
हड्डियाँ गलती हों,
अथवा
प्रकाश भी हिंसा करता हो,
पीड़ा पहुँचाता हो।

तभी से,
मैं अपनी पहनी हुई कमीज़ के बटन,
नन्ही-सी सुई में इकहरा धागा पिरोकर,
कसता रहा हूँ।
और उसकी नोंक को कभी-कभी
वक्ष की धड़कन की ओर चुभने देता हूँ।
जिससे, एकत्रित रक्त—
जगत् की खुली हवा में—
अपनी शुद्धि, अपनी तपन,
अपना शैत्य ग्रहण करता रहे।
अथवा पड़े हुए कीड़े स्वास्थ्य लाभ कर सकें।
अथवा पड़ने वाले कीड़े-पतंगों को,
बाहर भी,
रक्त का प्रकाश मिल सके।

२८ जून, '६७

डायरी के कुछ पृष्ठ

मैं और तुम

मैं मरुस्थल हूँ, तुम तरल-सरल सरिता। मेरा वाह्य पटल ही कभी-कभी भीग पाता है, तुम अन्तर से भी स्निग्ध हो मेरे होठों पर कोई कहानी मुखरित रहती है, तुम सदैव मनोमयी होकर इठलाती रहती हो। तुम्हारे दुकूल तुम्हें बाँधे रहते हैं और तुम्हारा आलिंगन करते रहते हैं, पर मेरे छोर विस्तृत है। मैं तुम्हें छूने के लिए हाथ बढ़ाता हूँ, पर दुकूल (मध्य में) विघ्न बन जाते हैं। मेरा हृदय सदा से तृषित रहा है, इसीलिए तो इस जग में तुम्हारी महत्ता बनी हुई है। यह न समझना कि यह तुम्हारा सम्मान है। यह सम्मान नहीं अभाव की पूर्ति मात्र है। जिस दिन इस जग से मेरे हृदय की प्यास बुझ जाएगी, उस दिन से तुम्हारा चाहने वाला भी कोई नहीं रहेगा। पर विश्वास रखो, मैं इतना निष्ठुर नही निकलूँगा तुम्हारा निरादर नही होने दूँगा। इसके लिए ही तो विधि से शाश्वत शुष्कता व प्यास लेकर जन्मा हूं। पर प्रिये ! तुम भी फूलो मत अपने अनुकूल दिनों पर। क्योंकि—

'यदि तुम रूप-गर्विता सुन्दरि हो, तो मैं भीं हूं स्वाभिमानी तारा।
जगत् तुम्हारे आलिंगन को लालायित गौरव का प्रसंग मुझसे हारा ।।

एक भाव-एक प्रतीक

अरे भाई ! यह ओछा वसन्त नहीं है, जो वृक्ष-वृन्द को, लता-वल्लरियों को, पुष्पों और पल्लवों को अनुदार भाव मे युवापन एवं हरीतिमा प्रदान करे। वह तो इतना क्रूर है कि प्रथम तो उन्हें

पतझड़ प्रदान करके तपस्वी-सा बनाकर जीवन का सम्पूर्ण वैभव हरण कर लेता है। तब कहीं नवीन कोंपलों के रूप में हरीतिमा प्रदान करता है। यह तो उदार-हृदया सुन्दरी वर्षा है जो मुक्त-हृदय से, किसी प्रकार के अपहरण के बिना ही, साम्यवाद की घोषणा करती हुई समभाव से सम्पूर्ण प्रकृति को हरीतिमा प्रदान करती है। इसके आगमन पर भूमण्डल हरी-भरी चादर से परिवेष्ठित हो जाता है। कुछ आक और जवाँसे जैसे संकीर्ण-हृदय ईर्ष्यालु, इसके इस मुक्त दान की अवहेलना करके, कुढ़ते हैं। पर उस महिमामयी को इन विरोधों से कोई आघात नहीं पहुँचता। वह कभी भी अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होती। और तो और, चिह्न शेष नदी-नद उसके राज्य-काल में उमंग और यौवन से इठलाते हुए इसका जय-जयकार करते हैं।

छल

चिर नवीन !

मनुष्य की सृष्टि के अनन्तर विधाता को उसकी सीमित गतिशीलता के लिए अत्यधिक चिन्तित होना पड़ा था। उसी समय वृद्ध एवं अनुभवी विधाता ने विगत, वर्तमान एवं अनागत की रचना करके चिन्ता से मुक्ति पायी। जैसे ही सष्टि में तीनों ने अपना कार्य भार संभाला तो फिर विधाता ने मनुष्य की ओर देखने की इच्छा नहीं की।

'विगत' उसे विभिन्न अनुभूतियों के आधार पर अनुभव प्रदान करता रहा।

'आगत' या वर्तमान उसे कार्यकारी शृंखलाओं से आबद्ध किये रहा।

और 'अनागत' उसे अपनीं रंगीन कल्पनाओं में निमग्न बनाए रहा।

और अन्त में मनुष्य ने देखा कि वह पूरी तरह लुट चुका है।

विद्युन्मेघ

घनघोर घन आकाश में उमड़ते-घुमड़ते हैं और कारणवश बरस भी पड़ते, हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उससे वसुधा का कण-कण सिक्त हो जाय। कोई उजाड़ खण्ड, जो कि अभाव की पूर्ति के लिए उमंगित होना चाहता है, उसमें हरीतिमा के दर्शन नहीं होते, क्योंकि घन के रस में वह आर्द्रता ही नहीं जो उसके अभाव की पूर्ति कर सके। सृष्टि के वाह्य स्वरूप में सर्वत्र विभाजकता दिखाई देती है। यद्यपि एकता का अनुभव सभी करते हैं परन्तु संस्कार, जाति, सम्प्रदाय देश और काल की जंजीरों से आबद्ध हुए प्राणी उस एकत्व की माला में गुंथने के लिए असमर्थ दिखाई देते हैं।

इसी प्रकार तड़ित की क्षणिक आभा है, आलोक सदैव और स्वतः विकीर्ण होता है, पर उस गहन अन्धकर में जहाँ कि परिस्थितियों ही ने सदैव के लिए अन्धकार भर दिया है, जो अपने में पूर्ण भी है, उसको विद्युत् तो क्या कोई भी शक्ति प्रकाशित करने में असमर्थ सिद्ध होती। यद्यपि संसार उस व्यक्ति विशेष को वाह्य रुप से प्रकाशमान ही समझता है। उसको प्रकाशित एवं पूर्णं बनाने की प्रक्रिया सहृयदता के माध्यम से सिद्ध की जा सकती है। यह दैवी गुण प्रकृति ने मुक्त रुप से संसार में वितरित किया है। परन्तु उसका उपयोग और उपभोग करना संसार भूल गया है।

आकुल क्षण

ओ जीवन की रंगीन हरीतिमे !

अब मैं समझा कि जीवन के अस्तित्त्व के लिए 'स्व' के अनस्तित्व की भी आवश्यकता है। जगत् के प्राणियों की परम्परा तो टिड्डी-दल की भाँति अपथगामी ही है। जिस पर वे चलते हैं उसे ही अपना मार्ग समझ बैठते हैं। परन्तु प्रकृति का भी अपना

एक नियम या मार्ग है, उसी पर वह सबको चलने के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य अभिमान में भरकर अपने नियम निर्धारित करते हैं, पर उन्हें भी, अन्ततोगत्वा, प्रकृति के उस शाश्वत नियम के आधीन होना पड़ता है।

आकाश से उल्का-पिण्ड टूटकर पृथ्वी की ओर आते हैं, तो शंकालु मस्तिष्क भय की आशंका करने लगते हैं। पर जब धरती के पटल से अंकुर फूट पड़ता है तो मनुष्य-प्रकृति प्रमुदित होने लगती है। यद्यपि इन दोनों स्थितियों में प्रकृति का शाश्वत नियम कार्यशील है, दोनों स्थितियाँ ही सत्य हैं, पर एक में विध्वंस की भावना है और दूसरे में निर्माण की।

मनुष्य की प्रवृत्ति संस्कार से निर्माण की ओर है। आज जगत् में सभ्यता की दृष्टि से, चरम बिन्दु स्वीकार किया जा रहा है, फिर क्यों विध्वंस की भावना चैत्र-मेघ की भाँति सबको शंकित कर रही है ?

मधु-संचय

यदि भ्रमर में रस संचय की शक्ति नहीं है तो हर पुष्प भी रसवान् नहीं होता। रस-संचय से मेरा तात्पर्य रस-ग्रहण की शक्ति से है। और जब शक्ति होती है तो अरसिक क्षेत्रों से भी रस की अनुभूति की जा सकती है। और रसज्ञता या सहृदयता नहीं है तो रस के पारावार में भी नीरसता का अनुभव होता है। जो कमल भ्रमर के लिए सर्वस्व है, वही मण्डूक और गुबरीला के लिए गन्ध-हीन और नीरस। यह रस-ग्रहण की शक्ति हृदय में विद्यमान रहती है। अतः इसके लिए शिक्षा की उपाधियों की आवश्यकता नहीं। किसी को घोर वासना में रस की अनुभूति होती है तो कोई परम् विरक्ति में ही रसानन्द प्राप्त कर लेता है।

मेरी दृष्टि में तो रस का क्षेत्र और भी व्यापक है। इस दृष्टि से जड़-चेतन सभी अपनी-अपनी सीमा के अन्तर्गत रस ग्रहण करते

हैं मधुमक्खी मधु में डुबकी लगाने पर रस की अनुभूति कर पाती है तो घुन सूखे काष्ठ में भी वही स्थान प्राप्त करके अपना जगत्-जीवन सफल करता हैं। अतः पूर्ण रसज्ञ बनने के लिए पूर्ण नीरस बनना आवश्यक है क्योंकि उस स्थिति में अपेक्षा की समाप्ति हो चुकती है।

मैं पूर्ण नीरस बनने के प्रक्रिया-चक्र को पूर्ण करने में लगा हूँ।

अपहरण

एक थी गुलाव की कली और एक था वंसछेदक, काला-कलूटा भ्रमर। दुर्भाग्य से या संयोग से भ्रमर उड़ता हुआ जा रहा था कि पथ में एक उपवन पड़ गया। उसमें उसे हरी डाली पर झूमती हुई एक कली दिखाई दी। रस का लोभी तो नही, पर गुणग्राहक भ्रमर उसका तिरस्कार करके आगे न बढ़ सका और उसके निकट ही गुंजार करने लगा। कुछ समय पश्चात् संकुचित भाव से बोला—'ओ राजकुमारी! क्या मुझे आश्रय दे दोगी?' कली ने कहा—'आश्रय ले लो, पर जिस मन्तव्य से तुम यहाँ आए हो, उसे मैं भली प्रकार समझती हूँ।' भ्रमर यह सोचते हुए कि यह प्रथम परिचय ही तो है, वहाँ टिक गया। कली प्रतिदिन भ्रमर की लम्पटता पर व्यंग्य कसती रहती और भ्रमर यह कहकर टालता रहा कि 'तुम्हारी आकर्षणपूर्ण बन-ठन भी तो ऐसी ही है।'

समय टलता गया। भ्रमर ने अपना सम्पूर्ण स्नेहपात्र रीता कर दिया, पर वह कली को न रिझा सका। उस हठीली ने अपनी पंखुड़ियों को विकसित नही होने दिया। अन्त में जीवन की गति समझकर, वह भ्रमर यह कहता हुआ—'अब तुम्हें सच्चे प्रेमी की कभी प्राप्ति नहीं हो सकेगी, और मेरी आँखें तुम्हारे ऊपर पड़ चुकी हैं, अतः तुम कुमारी भी नही रह सकीं' दूर देश को चला गया। कली बोली—'जाओ, देख लिया तुमको, इतना ही तुम्हारा धैर्य था।'

अब तक वह कली अपने स्वाभाविक विकास को अन्तर में रोक रही थी, इसलिए वायु के एक झोंके से उसकी पंखुड़ियाँ एक-एक करके झड़ पड़ीं। अन्त में कंकाल मात्र शेष रह गया। वह भ्रमर अभाव में ही पूर्णभाव होकर विदेश चला गया।

कै हंसा मोती चुगै

एक सरिता प्रवाहित हो रही थी, पर उसमें प्रवहमान जल गंदला था। उसके तट पर एक मानसरोवर वासी हंस बहुत समय से इस प्रतीक्षा में बैठा था कि उसमें मोतियों वाला शुद्ध जल आये,तभी वह अपनी चोंच उसमें डाले। उधर नदी का नीर निरन्तर अनुनय-विनय करता रहा—'अरे भाई ! यह जल तो पियो, फिर अच्छा भी आ जायेगा। मुझसे घृणा क्यों कर रहे हो ? मेरा भी तो जग में कुछ अस्तित्व है। मैं भी अपना कुछ अधिकार लेकर यहां आया हूँ। यदि तुम मेरी अवहेलना करोगे तो तुम्हें प्यासा ही मरना पड़ेगा। और फिर सोचो तो, तुम महापुरुष हो, यदि तुम्हीं मुझे सहयोग प्रदान नहीं करोगे, तो फिर संकीर्ण मनोवृत्ति के प्राणी मुझे अपनाने में कैसे समर्थ हो सकेंगे ?' इसी धारणा के साथ वह सरिता निरन्तर गन्दे जल का ही संकलन करती हुई उसके सामने से बहती रही।

उधर हंस ने भी सोचा---'सरिता कहती तो ठीक है, युगों से मैंने मोती चुगे हैं, युगों से मैं विवेकी रहा हूँ। मेरा सत्य परिनिष्ठित एवं परिष्कृत संस्कार-निर्मित है। तो क्या मैं उस सत्य के बल पर किसी गिरे हुए को ऊपर नहीं उठा सकता ? सत्य तो सत्य ही रहेगा। कुछ समय के लिए लोग अवश्य कहेंगे कि अब तो हंस भी कीचड़ खाते हैं; पर किसी प्रकार भी हो उस कीचड़ का उत्थान तो हो ही जायेगा। और सरिता की हठ भी पूर्ण हो जायेगी।' ऐसा सोचते हुए वह जैसे ही अपनी चोंच को उस गन्दे पानी में डुबोने लगा, तो स्वयमेव मोतियों से भरा हुआ शुद्ध नीर उसके समक्ष उपस्थित हो

गया। विश्लेषण करने पर उसके लिए वह गन्दा पानी भी 'मानस' जल के समान शुद्ध और मोतियों वाला प्रतीत हुआ।

सर्पमण

विकास की ओर अग्रसर कराने वाली उन ममतामयी त्रुटियों को जिन्होंने मुझे जाग्रत किया—समर्पण। मनुष्य में यदि कमियाँ न हों (अपूर्णता ही जीवन का मूल कारण है) तो उसे जगत् में जन्म लेने की भी आवश्यकता न रह जाय। और दूसरी ओर जिस दिन मनुष्य अपने को कमियों के कारण हीन समझने लगता है उसी दिन से उसके विकास का मार्ग भी अवरुद्ध हो जाता है। कमियों की अनुभूति ही ऐसी पथ-प्रदर्शिका होती है जो सत्पथ की ओर, पूर्णत्व की ओर अग्रसर कराती है। मेरी कमियों ने मुझे प्रेरणा और असीमित साहस प्रदान किया है। प्रिया मधुकरी के समान ये दुःख में भी मेरी सहचरी बनी रही हैं। कमियों की इस 'ज्ञात' स्थिति में 'अज्ञात' का नमन।

शव

मैं शव हूँ, यह बहुत पूर्व ही मैंने अनुभव कर लिया था। पर शव हूं, इसलिए किसी को इसे ठुकराने का अधिकार नहीं। कृपया कोई इसका अपमान न करें। इसे तो आवश्यकता है श्वेत वस्त्र ओढ़ने की। चार वाहक चाहिए तो, पर वे यह न सोचें कि हम ही इसके वाहक हैं। मैं शव हूँ, फिर भी हृदय में वह शान्ति लिए हूं जो जग को मुखरित करने की क्षमता रखती है, पाषाण-शिला को गलाने में समर्थ है। मैं शव हूं, फिर भी वह ज्वलनशीलता लिए हूं जो जग को मौन बना दे। शव होने के कारण घर से निष्कासित कर दिया गया हूं, पर यह भी याद रहे कि सभी घर मेरे हैं।

मैं शव हूँ अतः श्मशान मेरा सखा है। इससे विच्छिन्न करने का कोई साहस न करे ओ जग के जीवित प्राणियो! मैं घोषणा करता हूँ, मैं चेतावनी देता हूँ कि मेरे विगत की ओर कोई हाथ न बढ़ाए। शव होते हुए भी मैं इतना विशाल-हृदय हूँ कि कोई भी मेरे ऊपर होकर चल सकता है फिर भी मैं उत्तेजित नहीं होता। कोई मेरी अर्थी के बाँस छिन्न-विच्छिन्न करके चिता में जला दे, कब्र की ईंटें उखाड़ कर इधर-उधर फेंक दे, फिर भी मैं धैर्य धारण किए रहता हूँ। पर, जब मेरे रहस्य, मेरे हृदय अथवा मेरे शवत्व की ओर ही कोई हाथ बढ़ायेगा तो मैं सहन नहीं कर सकता, तब मैं भूत बन कर उसके पीछे लग जाऊँगा।

अरे, शवों की भी कुछ स्थिति है। उनके प्रति किंचित् सहृदयता का व्यवहार आवश्यक है। क्योंकि अन्त में सबको मुझ जैसा बनना है। हाँ, अन्तर केवल इतना ही है कि मैं जीवित शव हूँ और वे मरकर शव होंगे।

दिशा और भ्रम

आज लेखनी से अनन्त ही मुखरित होना चाहता है। अब तक अनन्त को अभिव्यक्त होने का पथ नहीं मिल पाया है, क्रम नहीं भासित हो पाया है, दिशा नहीं मिल पायी है। अभी तक तो भ्रम ही भ्रम है। परन्तु यह भ्रम है बहुत ही मनोरंजक, मनमोहक। तल्लीन हूँ इसी भ्रम में। यदि 'दिशा' को इस बात का गर्व है कि मैं लक्ष्य-विशेष का अन्तिम छोर हूँ तो 'भ्रम' को भी स्वाभिमान है कि न सही उस में अन्तिम छोर पर मध्य मार्ग तो उसी में से है। मध्य उसके उदर में ही समाहित है। अतः अन्तिम लक्ष्य के लिए मेरी स्थिति आवश्यक है। यदि 'दिशा' यह सोचती है कि 'भ्रम' महोदय मेरे बिना निरुपाय हो जायेंगे तो उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बिना 'भ्रम' के वह भी कुँआरी ही बनी रहेगी। उसकी सामाजिक महत्ता

शून्यमात्र रह जायेगी। यदि वह समझती है कि मैं 'इ' की शक्ति से पूर्ण हूँ तो भ्रम भी 'अ' का पौरुष लेकर प्रस्तुत हुआ है।

प्रतिकार

एक मदोन्मत्त, ऐश्वर्य-सम्पन्न, प्रफुल्लित गुलाब के निकट आया एक घुन। गुलाब उसे देखकर ही चिढ़ गया और बकने लगा अनाप-शनाप 'क्यों रे, तू यहाँ क्यों आया है ? तेरी इतनी हिम्मत, इतना दुस्साहस कि मेरे इस राजमहल में घुस आया !' घुन ने प्रार्थना की, "राजा साहब ! मुझे यहीं पड़ा रहने दो, मैं आपकी किसी प्रकार की हानि नहीं होने दूंगा। मैं जाति का ब्राह्मण और पठान दोनों ही हूँ। अतः आपकी रक्षा निमित्त अपने प्राणों की भी बलि चढ़ाने की प्रतिज्ञा करता हूँ।" गुलाब कहाँ मानने वाला था ! अपनी कलिकाओं के प्रेमी भ्रमरों की ओर संकेत कर दिया कि इसे अपमान पूर्वक बाहर निकाल दो। भ्रमरों ने अपनी प्रिया के सम्बन्धी की आज्ञा शिरोधार्य की और उन में से कोई एक भ्रमर उस निरुपाय घुन को अपने पैरों से लपेटकर दूर जाकर गोबर के अन्दर दबा आया।

होनहार की बात कि वह बेचारा घुन उस में पड़ा-पड़ा अनेक प्रकार की यातनाएँ सहन करता रहा। अन्त में उसने अपने को शव-तुल्य समझ लिया तथा वहीं पड़ा रहा। उस घुन ने उसी गोबर के रस से वही शक्ति संचित की जिससे राज्य पलट दिए जाते हैं। समय की बात कि वह गोबर खाद बन गया और माली ने उस खाद को उसी गुलाब के तले डाल दिया। वहाँ उस तपी घुन ने गुलाब की जड़ को घुनना आरम्भ कर दिया। कुछ समय पश्चात् उस गुलाब की सम्पूर्ण शक्तियाँ क्षीण हो गईं। अब न उस पर पत्ते हैं, न कलियाँ। अब उसे लोग 'घुना हुआ गुलाब का पंजर' कहते हैं। भ्रमर दूर से ही उसकी ओर व्यंग्य की हँसी हँसकर चले जाते हैं।

मेरे जीवन का स्वरूप

मेरा जीवन एक ऐसा गद्य-अवतरण है जो समास-शैली प्रधान है। इसको तो बस आचार्य शुक्ल के विचारात्मक निबन्ध का एक गद्यांश ही समझिए, विशेष रुप से 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था का' इतना होते हुए भी उसका प्रसंग अज्ञात ही है। भाषा, व्याकरण, शब्द-चयन आदि की दृष्टि से यह सामान्य ही है, फिर भी पारायण करते हुए मस्तिष्क-पुष्ट हृदय में अनुभूति की जो तरंगें उठती हैं वे ध्वनि के बल पर ही अनुसूय हैं। अभिधा का क्षेत्र वहाँ तक नही पहुँच पाता। जीवन परीक्षा को जो परीक्षार्थी नोट्स की सहायता से पास करना चाहते हैं वे मेरे इस जीवन-रुपी गद्य-अवतरण को नीरस, थोथा, आदर्शवादी कहकर उपेक्षा के भाव से छोड़ देते हैं। वे कहते हैं—'परीक्षा में इस प्रकार के अवतरणों से पाला पड़ेगा तो उन्हें छोड़ देंगे, पास तो हो ही जायेंगे। ऐसे अवतरण तो सिर खपाने वाले होते हैं।' मैं कहता हूँ—'अरे भाई! थोड़ा समझ लोगे तथा ढंग से प्रसंग दे दोगे तो परीक्षा में अच्छे अंक पाओगे।' पर कोइ नहीं सुनता। मुझे भी चिन्ता क्या, कोई न सुने। मैं तो अब जैसा कौमा, विराम का बन गया हूँ उसमें अधिक परिवर्तन की सम्भावना नहीं है।'

चेतावनी

मेरा नीड़ मुझसे कहता है कि 'मैं तुम्हारा भूत हूँ, मैंने तुम्हारा सृजन किया है, तुम्हारी भावनाओं को बीज-रुप में संस्कारित किया है। तुम कितने ही दूर क्यों न चले जाओ, पर तुम्हारा उद्‌गम स्थान होने के कारण सूत्र मुझ से ही संलग्न बना रहेगा। तुम्हें फिर चिन्ता काहे की!'

मेरा पथ यह कहता है, तुम्हारे गन्तव्य का साधन मैं ही हूं, तुम्हारा भविष्य मैं ही हूं। तुम्हारा साध्य केन्द्र मैं ही हूँ। अतः तुम्हारा सम्बन्ध एकमात्र मुझसे है। तुम्हारा काम्य अथवा नियति

की निश्चिति होने के कारण तुम मुझे प्राप्त होकर ही रहोगे। बस मेरी ही धारणा किए रहो, चिन्ता काहे की !'

पर इन दोनों के मध्य का 'अज्ञात' मुझसे कहता है, 'ये दोनों आकर्षण हैं जो अपना-अपना महत्त्व प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। नीड़ तो कार्य-कारण के सम्मिलन का स्थल मात्र है, उसने तुम्हें कुछ भी नहीं दिया। पथ के द्वारा काम्य प्राप्त होता है अतः उससे भी कोई सिद्धि नहीं। इन दोनों से महत्त्वपूर्ण है अज्ञात की 'प्रेरणा', जो अज्ञात तत्त्व के ताने-बाने से अपना पट बुन कर उसमें तुम्हें लपेट रही है। यही चिर-सुन्दरी तुम्हारी काम्य होनी चाहिए। इसी में तुम अर्द्धांग के रिक्त स्थान की पूर्ति पाओगे।'

इन्हीं के मनोविश्लेषण में—अज्ञात।

तरंगें और बुद्बुद

तरंगें मनमोहक हैं, पर मिथ्या हैं। बुद्बुद अस्तित्ववान तो हैं पर क्षणभंगुर होने के कारण अस्तित्वहीन समझिए। इस शंकालु एवं भीरु प्रकृति व प्रवृत्ति ने आस्थावान तथा कर्मप्रधान जगत् का जितना अहित किया है उतना और किसी मिथ्याचारी, अत्याचारी ने नहीं। क्षणवादी विचारधारा ने जीवन के प्रकृत सौन्दर्य को वीभत्स बना दिया है। वास्तव में तरंगें और बुद्बुद अपने में 'स्व' का सौन्दर्य व अस्तित्व लिए हुए हैं। इस विपरीत विचारधारा ने मानव को मानव के प्रति अव्यवहारवादी बनाया है। संकीर्ण मस्तिष्क इस 'स्व' का सौन्दर्य देखने में असमर्थ हैं।

इस युग्म के जीवन-सम्बन्ध में स्मरण रखना चाहिए कि जिस दिन कान्ता कलेवरा किशोरी तरंगों ने बुद्बुदों के साथ सान्निध्य स्थापित किया, उसी दिन से सृष्टि का सूत्रपात हुआ है। ये युवक और युवती जीवन के अश्रु-हासादि लिए हुए हैं। इनमें गति है, यह इसी से प्रकट हो जाता है कि इनकी उत्पत्ति संघर्षों से हुई

है। तूफ़ान के द्वारा उत्पन्न संघर्ष, पर्वत की विशाल चट्टानों से अवरोध आदि इनके जन्म के कारण हैं। संघर्ष ही इनके जननी-जनक हैं। अतः इनमें अपने पिता-माता के गुणों का होना स्वाभाविक है। फिर संसार यह क्यों कहता है कि यह सब तो दृश्य मात्र हैं, मृगतृष्णा हैं, मनमोहक हैं, मन-भ्रामक हैं ?

मित्रता की सीमा

मेरा जीवन मित्रता का इतिहास-क्रम है। जिस माँ की कुक्षि में रहा, जिस जन्म-स्थान के प्रांगण में क्रीड़ा की, जिस-जिस विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की, जिस प्रान्त में नागरिकता सीखी, जिस देश के अन्न, जल, वायु से संस्कार बने, जिस विश्व की व्यापकता ग्रहण कर रहा हूँ, वे सब मेरी मित्रता के विकसित स्वरूप ही तो हैं। जिस अध्ययन-कक्ष में बैठकर लिखता-पढ़ता हूँ, उसकी पुस्तकें, भगवान् आशुतोष का मोहक चित्र, कक्ष की दीवारें, उसकी घड़ी, उसमें टँगे हुए कपड़े मेरे मित्र ही तो हैं जो मुझे सुपथ की ओर प्रेरित करते रहते हैं। मेरा शरीर, मेरी प्रवृत्तियाँ, मेरी मनोवृत्तियाँ ये सब भी तो मेरे सखा-सखी हैं ; जो मुझे जीवित रहने के लिए वाध्य कि ए रहते हैं। वास्तव में मेरा रुदन और हास मेरे चिरपरिचित मित्र हैं। मेरा परम मित्र विश्वास है, इसके तो विभिन्न रूप मैंने समय-समय पर देखे हैं। 'आशा' मेरी परम सहेली है, जो लुकती-छिपती मेरे साथ ही रही है। 'उद्देश्य' मेरा अभिधेय सखा है। हाँ, इसके प्रति अब तक एक-पक्षीय मित्रता ही सम्भव हो पायी है, क्योंकि यह निरन्तर आगे बढ़ता रहा है और मैं इसके पीछे-पीछे दौड़ता रहा हूँ। इससे जब तक उभयपक्षीय मित्रता नहीं हो जाती तब तक के लिए अज्ञात हूँ।

मेरी वाटिका

यह मेरी बगिया है। इसके पुष्प, पत्तियाँ ग्रौर फल-फूलों से लदे वृक्ष तो मेरे हैं ही, साथ ही इसकी काँटेदार नागफनी, थूहड़, सेंहड़ ग्रौर रेगिस्तान भी मेरे ही हैं। इस बगिया का मैं ही बागवान हूँ। मेरी निगरानी ग्रौर चौकीदारी के समय इस बगिया की सीमा की ग्रोर कोई लुटेरी ग्रौर चोर की ग्राँख से देख भी नहीं सकेगा।

तिरोभाव

'ग्रनन्त में निमग्न होने के साथ ही दिगन्त में फैलने की प्रवृत्ति भी होती जा रही है। गन्धशेष होने पर क्या मैं तिरोहित हो जाऊँगा ?

घड़ी की टिक-टिक

घड़ी की 'टिक-टिक' बन्द हो गई। मैंने उसको सम्बोधित करते हुए कहा—'यह तू जानती ही है कि मैं तेरी टिक-टिक, मिनट ग्रौर घण्टों से बँधा नहीं हूँ, फिर भी तेरी टिक-टिक मुझे भाती है। क्योंकि उसमें ग्रपना सौन्दर्य है। ग्रौर इस प्रकार के सौन्दर्य पर मुग्ध होना मेरी विशेषता है। ग्रत: ग्रपनी ध्वनि की ग्रनुभूति कराती रहा कर। यदि ऐसा नहीं है तो सुन ले—मैं तेरी कलई खोल दूँगा। सचमुच तू बड़ी संकीर्ण है। ग्रन्यों के जीवन को तू सीमित ग्रौर गुलाम बनाए रहती है। मानिनि ! यह जगत् तेरा ग्रादर नहीं करता। यह तो भयवश, स्वार्थवश तेरा लघु मूल्य ही ग्रंकित करता है, वह भी मिनट ग्रौर घण्टों में। पर मैं तेरा ग्रादर करता हूँ। केवल इसलिए कि तेरा ग्रन्तर, बाह्य, उपेक्षाग्रों के होते हुए भी, निरन्तर शब्दित बना रहता है।

मेरा आकार

मैं भावना-सागर हूँ। अपार तरंगें हैं इसके बाह्य पटल पर। असंख्य प्राणी निवास करते हैं इसके मध्य में। दर्शनीय बहुमूल्य मोती सुशोभित हैं इसके तल में। घटना की कंकड़ी से, परिस्थितियों के अवरोध से, नियति की विडम्बना से, समय की वायु से इसका बाह्य पटल स्पन्दित बना रहता है। उत्पन्न लहरें, ज्ञात जगत् में उसकी निष्ठुर सीमाओं, पथरीले कगारों से टकराकर अवरुद्ध हो जाती हैं। उनको अनन्त का छोर नहीं मिल पाता। दिन-रात का समय उन्हें बाँधना चाहता है। पर प्रसन्नता की बात है कि इतने बन्धन होने पर भी वे असीमित हैं। इससे भी बढ़कर आनन्द की बात है कि उसके मध्य में निवसित चेतन प्राणी मोदमुद् होकर अपने जीवन की सराहना करते हैं। सर्वाधिक अनुकूलता यह है कि उन जीवों के मध्य में पल्लवित एक बेढंगी नीरस सीपी, मुक्ता के भार से गर्भित होती हुई, नित्यप्रति गहराई की ओर चली जा रही है। इससे मैं धनी बनता जा रहा हूँ। न सही 'ज्ञात' में खोजी गोताखोर जो रत्न को खोजें, पर 'अज्ञात' के तल (आन्तरिक और बाह्य) अपने पर मुग्ध हैं ही।

राष्ट्र-पुरुष

एक वट वृक्ष है, जिसकी जड़ें पाताल तक फैली हुई हैं और जिसका शीर्ष ऊपर शून्य में अपनी आस्था बनाए हुए है। मध्य का तना और उससे संलग्न शाखा-प्रशाखाओं से लगे हुए पल्लव अपनी स्निग्धता, विशालता, सहनशीलता एवं आश्रय-प्रदायिनी शक्ति के कारण, उस विस्तृत जंगल का आकर्षण-केन्द्र बने हुए हैं। उसी के नीचे तो उस जंगल के मृगराजों ने, भोले-भाले पक्षियों ने, सरल-हृदय साधुओं ने और तृषित, ग्रीष्मातप से तापित एवं मूसलाधार वर्षा से बचाव के लिए भाँति-भाँति के जीवों ने शरण पायी है। उस वृक्ष ने भी मुक्त-हृदय से सबको आश्रय दिया है। उसने अपने स्नायुओं में प्रवाहित दुग्ध सबको पिलाया है। वास्तव में जो जो,

जिस-जिस भावना से उसकी शरण में आया है अथवा उसकी सीमा में प्रविष्ट हुआ है, उसने इससे कुछ न कुछ पाठ अवश्य सीखा है।

हाँ, यह वृक्ष अपने में ऐसा उनींदा रहा है कि कभी भी भविष्य की गतिविधि के लिए पहले से ही सन्नद्ध नहीं होता। परन्तु जैसे ही अवसर आता है, वह तत्काल ही अपनी आन्तरिक विषमता को तिरोहित कर देता है। हुआ क्या, इस बार भी एक सीमा-विस्तारक राजा ने इसके ऊपर अपनी मोहर लगाने की ठानी। परन्तु जो प्राणी स्वतन्त्र रूप से आश्रय पाने के अभ्यासी थे उन्हें किस प्रकार किसी का एकाधिकार सहन हो सकता था? अब तक तो सभी दीन-भाव से उसके नीचे आश्रय पाते रहे हैं। अतः आश्रय देने की भावना के प्रति कृतज्ञता निभाने का दृढ़ निश्चय किया उन्होंने। उनकी घोषणा हुई, 'इस पुराण वृक्ष पर किसी परकीय का अधिकार नहीं होने देंगे। इसकी छाया तो सभी के लिए सन्तुष्टि प्रदान करने और सच्चिदानन्द की अनुभूति कराने के लिए एक विशिष्ट आश्रय है। यह आश्रय किसी का आधिपत्य स्वीकार नहीं करेगा। यह तो सभी का वन्दनीय है।'

इसकी मर्यादा-रक्षा के लिए सिंह ने सिंहत्व और गज ने गजत्व तो प्रदान किया ही; मृग, कपोत, गाय जैसे भोले जीवों ने, लघ्वी चींटियों ने, कुतर्की चूहों ने, बिलों में रहने वाले मणिधारी पन्नगों ने भी अपना संगृहीत धन समर्पित कर दिया। साथ ही अपने को भी रक्षा के निमित्त अग्रसर कर दिया। इसकी मर्यादा, प्रतिष्ठा के लिए मानसरोवरवासी शीतल छाया चाहने वाले हंसों ने भी अपना 'नीर-क्षीर विवेकत्व' तथा शुकों ने अपना पांडित्य भी दादा वट वृक्ष को समर्पित कर दिया। यहाँ तक कि उस पर रहने वाले अशरीरी भूत-पिशाचों ने भी अपनी मनोवृत्ति की कलुषता और संकीर्णता छोड़ दी और अपनी शक्ति को धनात्मक रूप में परिवर्तित करके इसकी रक्षा के लिए तत्परता प्रदान की। अब इस राष्ट्र-पुरुष की रक्षा के लिए चींटी से लेकर हाथी तक सभी अपना निजत्व संगठित करके कटिबद्ध हो गए हैं। अब उसकी सीमा में किसी

अन्यायी की लोभी आँख, अत्याचारी हाथ, दलन करने वाले पैर तथा परतन्त्र बनाने वाला मस्तिष्क प्रवेश नहीं कर सकता।

किनारा

प्रत्येक लहर किनारा बन जाती है—यदि नौका चाहे तो; और यदि उसे डूबना ही है तो किनारा भी मझधार बन जाता है।

सम्बोधन

विश्वास के व्यक्त क्षणो ! पूजा के साभार भावो !! उपासना के मुखरित शब्दो !!! प्रेम की अनभिव्यक्त हार्दिक तरंगो !!!! श्रद्धा और आदर के मूर्तिमान् उद्‌गारो !!!!! सावधान हो जाओ। मैं आज तुमसे प्रश्न करूँगा, तुम्हें आज अपनी स्थिति की अभिव्यक्ति करनी पड़ेगी। तुम्हें बताना होगा कि कृत-साधना में दोष कहाँ पर है, जिसने यौवन के साथ विश्वासघात किया है, जिससे इस तारुण्य में भी वह उभार और उत्साह नहीं है, जो एक युवक में, एक परिष्कृत व्यक्ति में, सुशिक्षित सामाजिक में, आज्ञाकारी सन्तान में,अनुशासित तथा मर्यादित विद्यार्थी में और आत्मवान् मानव में होना चाहिए था। निरन्तर साधना करते हुए भी अब तक मैं विश्व-रूपाणी वीणापाणि के चरण-कमलों में आश्रय क्यों नहीं पा सका हूँ? क्यों नहीं मेरे अन्तरतम का शाश्वत तार झंकृत हो पाया ? क्यों नहीं मेरे अंगों से एकात्मा की लहर फूट पायी ? तुम्हें उत्तर देना होगा !

सच बता दो कि मैं एकान्त प्रेम का विद्यार्थी, विश्वात्मा-रूपी चिर-यौवना रूपसि से, अब तक क्यों सम्बन्ध नहीं जोड़ पाया? इसके लिए मैं दोषी हूँ क्या ? यदि मेरे वे क्षण अनर्गल विडम्बना मात्र थे तो तुमने उस समय मुझे क्यों सजग नहीं किया ? मैं इन

सब लगाए गए आरोपों का उत्तर सुनने के लिए आतुर हूँ।

बताओ !

जीवन-रस

अभावों के कड़वे घूंटों का सुस्वाद जिसने जितनी अधिक मात्रा में चखा है, वही अपनी दंशित तीक्ष्णता से समय की घड़ियों को अधिक प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत करने की क्षमता रखता है।

स्वर्णिम भविष्य

सांसारिक मान्यताओं की स्वार्थमय और कठोर मर्यादाएँ यदि शिथिल पड़ जायँ तो मनुष्य को शिलाओं की रगड़ में कायाकल्प न करना पड़े। फिर तो अन्तर में निवसित महाद्वीपी आत्मा का साम्राज्य विस्तृत होकर भूमण्डल में फैल जाय। स्वार्थ, अत्याचार जल-भुनकर भस्म हो जायँ।

मैं क्या हूँ ?

'मैं सागर की वह लघु लहर हूँ जो किनारे से टकराकर एक हल्का शब्द कर रही है।'

हाँ, भाई ! 'क्यों' का मेरे जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसे होने दो। उसके विषय में 'क्यों' मत पूछो। मैं स्वयं अपने से पूछता हूँ कि मुझे सांसारिक 'क्यों' ने ऐसा क्यों बना दिया है ? किन्तु जब बन गया हूँ तो क्यों इसका परिवर्तन करूँ ? और क्यों न इसका परिवर्तन कर डालूँ ?

धन्य है देवि 'क्यों', तेरा मैं कृतज्ञ हूँ।

अभिव्यक्ति

प्रत्येक सुख के पीछे एक मधुर पीड़ा का आभास अवश्य है और प्रत्येक दुःख के पीछे एक शाश्वत आनन्द की झलक।

प्रश्न

कृपा करके मुझसे 'आशावादी' और 'निराशावादी' होने के सम्बन्ध में न पूछिए। क्योंकि आप धारावाहिक उत्तर चाहते हैं। मेरा उत्तर सुनकर आपकी बुद्धि सरपट दौड़ने लग जाएगी, फिर भी उसे विश्वास तो निश्चित रूप से नहीं हो पायेगा। नहीं मानते तो सुनिए—"मैं इतना बड़ा आशावादी हूँ जहाँ से निराशा का छोर प्रारम्भ हो जाता है। और उस कोटि का निराशावादी हूँ—जिसकी अन्तिम सीमा से आशा का साम्राज्य शुरू हो जाता है।"

लेखनी से

मैं भावमधुरा, कल्पनाशीला, रसानुभूतिमयी एवं जीवनी-शक्ति वाली अपनी लेखनी से बार-बार पूछता हूँ, 'आखिर तू लिखना क्या चाहती है?' पर वह सुनती ही नहीं और लिखती ही चली जाती है। मैं कहता हूँ कि तू क्या-क्या कूड़ा-करकट लिखती चली जा रही है, जिसमें न कुछ सम्बल है, न कुछ आधार, जिसका न कहीं मान है और न चाह। लिखे हुए का विश्लेषण हो लेने दे, फिर और लिखना। पर वह मानती ही नहीं। निब और कागज़ की रगड़ से केवल इतनी ही ध्वनि सुनाई देती है—'बस, लिखने दो, भविष्य में लिखने के लिए अभ्यास कर रही हूँ।' मै कहता हूँ अपना परिचय तो दे दे, क्योंकि बिना परिचय के प्रेम कैसे, बिना प्रेम के एकत्व कैसे, और बिना एकत्व के मेरा हृदय तेरी जिह्वा पर कैसे आ सकेगा? हाँ, एक बात समझ ले, जिससे तुझे बाद में खेद न हो,

'मैं एक पत्नीव्रत वाला नहीं हूँ, मेरे हृदय में एक और बैठी है, उसका अस्तित्व तुझे स्वीकार हो सके, तो मेरे साथ रहना, नहीं तो धोखे में न रहना।' इस पर वह कहती है—'उसी के सखीत्व की भावना ने ही तो मुझे तुम्हारी अनुगामिनी बनाया है।'